प्रस्तावना ।

"As we stand upon the sea shore while the *tide is coming in, one wave reaches up the beach* far higher than any previous one, then recedes, and for some time none that follows comes up to its mark, but after a while the whole sea is there and beyond it, so now and then there comes a man—head and shoulders above his *fellow-men*, showing that nature has not lost her *ideal, and after a while even the average man will overtop the highest wave of manhood yet given to the world.*"

—MARDEN

जीवनचरित्र लिखना बड़ा कठिन काम है। पहले तो यही निश्चय करना सहज नहीं है कि किसका जीवन इस योग्य है कि संसार के सम्मुख रक्खा जाय। यों तो प्रत्येक मनुष्य से हमको कुछ न कुछ शिक्षा मिलती है, पर उल्लेख करने योग्य उन महानुभावों की कीर्त्ति है जो जन-समूह के पथ-प्रदर्शक हुए हैं, सुरक्षित करने योग्य उनके जीवन हैं जिन्होंने किसी देश के इतिहास को पलट दिया हो। मान लीजिए कि भगवान् बुद्धदेव ने जन्म न लिया होता अथवा वे राज्यपरिवार में ही रह कर देश का शासन करते। यदि

इनमें से एक बात भी हुई होती तो संसार का इतिहास शून्य-प्राय होता। धर्म्म के वे उच्च भाव कहाँ उत्पन्न हुए होते जिनको आज भी संसार की अधिक संख्या अपने हृदय की संपत्ति समझती है। चीन, जापान, मंगोलिया इत्यादि देशों का इतिहास ही दूसरा होता। भारत को जो गौरव उनके उत्पन्न होने से प्राप्त हुआ उससे वह वंचित रहता। चरित्र-लेखक को इसी कसौटी से अपने नायक को जाँचना चाहिए।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि चरित्र लिखे कौन ? हर एक लेखक जीवनचरित्र लिखने की योग्यता नहीं रखता। जिसका वह चरित्र लिखने बैठता है यदि उसके कार्यों से उसको सहानुभूति नहीं है तो वह उसका चरित्र लिखने के बिलकुल अयोग्य है। इसके साथ ही उसको पक्षपात-रहित होना चाहिए। उसकी श्रद्धा और भक्ति की सीमा होनी चाहिए। अपने नायक को विक्रमादित्य अथवा अकबर के वंश का सिद्ध करनेवाला अथवा उसको अवतार की पदवी देनेवाला उससे भी अधिक अयोग्य है कि जो सहानुभूति-रहित लेखक है। यदि लेखक ने अपने नायक के जीवन काल में उसका संग किया हो, उसकी दिनचर्या वर्षों तक देखी हो, उसके व्यवहार का वह स्वयं साक्षी हो, उसके कार्यों में उसने योग दिया हो तो वह चरित्रलेखक अत्यंत प्रशंसनीय हो सकता है। किसी महानुभाव के जीवन में उनके वे ही कार्य उतने शिक्षाप्रद नहीं होते जो वे प्रगटरूप में संसार के सम्मुख करते हैं, जितने कि वे कार्य जो वे घर के अंदर अपने नित्य-प्रति के व्यवहार में करते हैं। सब के सामने तो दुष्ट भी

भला बनने का प्रयत्न करता है। किसी व्याख्यानदाता की ओजस्विनी वक्तृता, उसके मीठे, मधुर शब्दों, उसके सुगठित, सुललित वाक्यों से लट्टू हो जानेवाला धोखा खा सकता है। जाओ और तीन मास उसके साथ रहो, देखो वह अपने नौकरों से कैसा व्यवहार करता है, उसके लेन देन का हिसाब कैसा है, अपने माता पिता, बहिन भाई, स्त्री बच्चों से वह किस प्रकार मिलता है, किस समय सोता जागता है, स्त्रीमात्र की ओर उसकी कैसी दृष्टि रहती है इत्यादि। यदि उसका पारिवारिक जीवन, रुपये पैसों का हिसाब, पड़ोसी और अन्य मिलनेवालों से बर्त्ताव देखने के बाद भी श्रद्धा बनी रहे तब मुक्तकंठ से स्वीकार करो कि वह उत्कृष्ट पुरुष है। महापुरुषों का गार्हस्थ्य जीवन भी सर्वसाधारण की सम्पत्ति है, उनके जीवन का वह भाग भी खुली हुई पुस्तक के समान है, जिस॰ की इच्छा हो पढ़ ले। बहुधा सुनने म आता है कि किसी की ' प्राइवेट ' जीवनी से क्या मतलब, उसका ' पब्लिक ' जीवन देखना चाहिए। यह सिद्धांत विषैला है। प्राइवेट जीवन ही पब्लिक जीवन बनाता है। प्राइवेट जीवन को पब्लिक रखने म चरित्र-सुधार में बड़ी सहायता मिलती है, यहाँ लों कि क्रमश साधनांतर प्राइवेट और पब्लिक जीवन में भेद भी जाता रहता है।

इन सिद्धांतों को सामने रख कर रानडे का जीवनचरित्र लिखना कठिन हो जाता है। कठिनाई इस बात में नहीं है कि उनके पथ-प्रदर्शक, जातीय इतिहास निर्माणकर्त्ता होने मे संदेह है। अथवा उनका गार्हस्थ-जीवन संदिग्ध था। कठि-

नाई लेखक की अयोग्यता में है। चरित्रनायक उच्च कोटि का विद्वान्, देशभक्त और गृहस्थ था, परंतु चरित्रलेखक की अन्यान्य त्रुटियों को छोड़ कर उसको रानडे को दो बेर दूर से देखने के अतिरिक्त कभी उनसे वार्तालाप करने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

हमें रानडे के चरित्र से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। उनके जीवनकाल में कोई भी संस्था ऐसी नहीं स्थापित हुई जिसमें उन्होंने सहायता न की हो। कांग्रेस के वे जन्मदाताओं में से एक थे। सोशल कानफरेंस, औद्योगिक सम्मेलन इत्यादि के वे ही प्रवर्त्तक थे। प्रार्थना-समाज के वे नेता थे, आर्यसमाज के जन्मदाता के वे परम भक्त थे और उनके कार्यों के परम सहायक थे। 'स्वदेशी' ने उनके काल में 'आंदोलन' का रूप धारण नहीं किया था, परंतु तिस पर भी वे पूरे पक्के स्वदेशी थे। वे यथासाध्य सदा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते थे। वे इतने बड़े देशभक्त तो थे ही, पर मातृभक्ति और पितृभक्ति में भी वे अनुकरणीय थे। उनकी माता का देहांत उनकी बाल्यावस्था ही में हो गया था। उनके पिता ने दूसरा विवाह किया था। रानडे अपनी सौतेली माँ को अपनी ही माँ समझ कर भक्ति की दृष्टि से देखते थे। अपने पिता के तो वे परम भक्त थे, सबजज होने पर भी उनको देख कर खड़े हो जाते थे, उनको दुःखी देख कर विह्वल हो जाते थे और उनकी खातिर अपने सिद्धांतों को भी थोड़ी देर के लिये भूलने को तैयार हो जाते थे।

सुधारक में यह दोष कदापि नहीं आना चाहिए। संसार के चिरस्मरणीय सुधारक वे ही हुए हैं जो अपने सिद्धांतों को ईश्वर की आज्ञा समझ कर माता पिता के सुख, दुःख, बिरादरी और जनसमूह के कोप की कुछ पर्वाह न करते थे। ऐसे लोगों के जीवन हतोत्साहित को उत्साहित करते हैं, निर्जीव में जीवन-प्रदान करते हैं।

रानडे इस उच्च श्रेणी के सुधारक नहीं थे, परंतु उनके जीवनचरित्र में इस बात के उदाहरण मिलेंगे कि उन्होंने भूल करने के बाद उसको अच्छा सिद्ध करने की कभी चेष्टा नहीं की। भूल हुई भी तो कोमल हृदय होने के कारण, न कि सिद्धांतों पर अविश्वास के कारण। अपने आदर्श के झंडे को उन्होंने कभी नीचा नहीं किया। पहली स्त्री के मरने के उपरांत उनका विवाह जबर्दस्ती किया गया, पर उन्होंने दूसरी स्त्री के पढ़ाने में जो परिश्रम किया, जितना दुःख सहा, और जिस प्रकार श्रीमती रमाबाई को रमणियों में अग्रगण्य बनाने में तन मन धन लगाया वह उनके चरित्र का उज्ज्वल अध्याय है। स्मरण रखने की बात है कि जिस समय में रानडे ने कार्यारंभ किया था उस समय समाज-सुधार का, इस समय की अपेक्षा, बहुत ज्यादा विरोध होता था। उसी प्रकार साधारण राजनैतिक कार्यों पर सरकार की दृष्टि आज कल की अपेक्षा अधिक रहती थी। ऐसे समय में उन्होंने अनेक सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं को स्थापित करके अपने धैर्य, उत्साह और हिम्मत का परिचय दिया।

रानडे से सब से बनती थी। विरोधी से भी वे प्रेम का

व्यवहार करते थे और उसको भी किसी न किसी काम में शरीक कर लेते थे।

इस पुस्तक में रानडे संबंधी बहुत सी कहानियाँ दी गई हैं। इनसे उनके पारिवारिक और 'प्राइवेट' जीवन का पता लगेगा। उनकी ईश्वर-भक्ति, विद्याभिरुचि, सादगी, निरभिमानता तथा परिश्रम के अनेक उदाहरण मिलेंगे। बड़े आदमियों की बहुत सी कहानियाँ झूठी भी बन जाया करती हैं। भक्त लोग अनजाने नोन मिर्च लगा देते हैं। इस पुस्तक में बहुत छाँट कर कहानियाँ लिखी गई हैं।

रानडे सरकारी नौकर थे, पर सरकारी काम को भी वे देश-सेवा समझ कर करते थे। बहुत से अफसर यह समझते हैं कि सरकारी काम के अतिरिक्त अन्य कार्य करनेवाले लोग अपने काम को अच्छी तरह नहीं कर सकते। यह विचार बिलकुल मिथ्या है। रानडे ने जजी के काम को अन्य कामों के कारण कभी नहीं टाला। जो सरकारी नौकर देश-सेवा के काम में लगे रहते हैं वे शिक्षित समाज के स्वतंत्र नेताओं के यथार्थ भाव और उच्च-आदर्श को समझने लगते हैं और उन पर कनखी दृष्टि से नहीं देखते। यही नहीं बल्कि नेताओं के विचारों में जो कार्यदक्षता के अभाव की त्रुटि रहती है, उसको सरकारी नौकर अपने अनुभव से सुधार सकते हैं। सरकारी काम और देश का काम एक ही है। लोग जहाँ दोनों में अंतर समझने लगते हैं वहाँ कठिनाइयाँ शुरू हो जाती हैं।

समाज-संशोधक लोग सहानुभूतिरहित, अभिमानपूर्ण, विदेशी चाल ढाल के अनुगामी और सर्वसाधारण से अलग

रहनेवाले समझे जाते हैं। रानडे का चरित्र इस भ्रम को दूर करेगा, शिक्षित और अशिक्षितों में प्रेम का भाव उत्पन्न करेगा।

परमेश्वर की विचित्र लीला है। समुद्र के किनारे खड़े होकर हम देखते हैं कि जब ज्वारभाटा के समय पानी ऊपर चढ़ने लगता है, बड़े वेग से एक लहर बहुत ऊँचे आ जाती है और फिर पीछे हो जाती है। इसके अनंतर जितनी लहरें आती हैं, वहाँ तक एक नहीं पहुँचती। परंतु थोड़ी देर के बाद समस्त समुद्र वहीं आकर विराजमान हो जाता है और उससे भी आगे बढ़ने लगता है। इसी प्रकार संसार में कभी कभी ऐसे मनुष्य पहुँच जाते हैं जो अपने समकालीन लोगों से बहुत ऊपर चढ़े हुए मालूम होते हैं और जो ईश्वरीय आदर्शों का दिग्दर्शन करा देते हैं, पर थोड़े ही काल में साधारण मनुष्य भी सब से ऊँची मानुषिक लहरसे ऊपर चढ़ने लगता है।

रानडे के विचार और कर्त्तव्य अपने समय से पूर्व के मालूम होते थे। लोग कह बैठते थे कि—"अभी इनकी आवश्यकता नहीं, इन बातों के लिये लोग तैयार नहीं।" पर आज सहस्रों नर नारी उन विचारों को साधारण समझते हैं और उनसे आगे बढ़ने को तैयार हैं। महान् पुरुष भी देश और जाति के लिये ईश्वर की देन हैं।

इस जीवन चरित्र के लिखने में निम्न-लिखित पुस्तकों से सहायता ली गई है—

१ जी० ए० मानकर लिखित रानडेचरित्र (अंग्रेजी), दो भाग।

२ आमच्या आयुष्यांतील कांहीं आठवणी (मराठी) रमाबाई रानडे कृत ।

३ रा० ब० जस्टिस महादेव गोविंद रानडे (हिंदी) रामचंद्र वर्म्मा लिखित ।

४ माधोराम कृत उर्दू चरित्र ।

५ Religious and Social Reform by M. G. Ranade compiled By M. B. Kalaskar.

६ Miscellaneous writings of the late Hon'ble Mr. Justice Ranade, Vol. I. Published by Ramabai Ranade.

७ Indian Social Reform. Edited by C. Y. Chintamani.

इनके अतिरिक्त सर नारायण चंदावरकर और श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने रानडे पर जो व्याख्यान दिए थे, उनसे और सोशल कानफरेंस की वार्षिक रिपोर्टों से भी सहायता ली गई है ।

विषय सूची।

मुख्य मुख्य घटनाओं की तिथियाँ।

१८४२ (१८ जनवरी) जन्म।
१८५३ माता का देहांत।
१८५४ पहला विवाह (सखूबाई से)।
१८५६ बंबई पढ़ने गए।
१८५९ मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा पास की।
१८६१ लिट्ल गो परीक्षा पास की।
१८६२ साधारण बी० ए० और आनर्स परीक्षाएँ पास कीं।
,, इंदुप्रकाश के संपादक हुए।
१८६४ एम. ए की डिग्री मिली।
१८६५ बंबई विश्वविद्यालय के फ़ेलो हुए।
१८६६ एल. एल० बी० परीक्षा पास की।
,, मराठी ट्रांसलेटर का पद मिला।
१८६७ कोल्हापुर के न्यायाधीश हुए।
१८६८ एल्फिस्टन कालेज के प्रोफ़ेसर हुए।
१८७१ एडवोकेट की परीक्षा पास की।
,, बंबई के तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रेट हुए।
,, (२८ जुलाई) बंबई के चौथे जज स्माल-काज़ कोर्ट हुए।
,, (१६ नवंबर) पूना के क़ायममुक़ाम सब-जज हुए।
१८७३ सखूबाई का देहांत।
,, दूसरा विवाह (रमाबाई से)।
,, सब-जजी पर मुस्तक़िल हुए।

१८७७ पिता का देहांत।
१८७८ पूना से नासिक की बदली।
१८७९ धूले की बदली।
१८८० डिस्ट्रिक्ट जज के पद पर नियुक्ति।
१८८१ बंबई के प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए।
,, फिर पूना के सदराला हुए।
,, पूना और सातारा के असिस्टेंट स्पेशल जज हुए।
१८८४ पूना के खफ़ीफ़ा जज हुए।
१८८५ स्पेशल जज हुए।
,, डेकन कालेज में न्याय के अध्यापक (जजी के साथ साथ)।
,, बंबई की लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी (जजी के साथ साथ)।
१८८६ फिनांस-कमेटी की मेंबरी।
१८८८ सी० आई० ई० की उपाधि मिली।
,, फिर स्पेशल जजी।
१८९० फिर लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी।
१८९३ तीसरी बेर लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी।
,, (२३ नवंबर) हाईकोर्ट की जजी।
१९०१ (८ जनवरी) अस्वस्थ होने के कारण ६ मास की छुट्टी ली।
,, (१६ जनवरी) स्वर्गवास।

जस्टिस रानडे ।

महादेव गोविंद रानडे ।

(१) बाल्यावस्था ।

' होनहार बिरवान के होत चीकने पात । '

रानडे का जन्म नासिक ज़िले के निफाड स्थान में माघ शुक्ल ६ शाके १७६३ अर्थात् १८ जनवरी १८४२ को मंगलवार संध्या समय हुआ था, इनका नाम महादेव रक्खा गया। इनके पिता गोविंदराव भाऊ कोल्हापुर रियासत में कई उच्च पदों पर रह कर पेंशन पाते थे। जिस समय महादेव का जन्म हुआ इनके पिता निफाड में 'कारकुन' थे। गोविंदराव का देहांत सन् १८७७ में हुआ। '

गोविंदराव के पिता अर्थात् महादेव के दादा अमृतराव तात्या संस्कृत के बड़े पंडित थे। वे भागवत बाँचते थे और ज्योतिष भी जानते थे। महादेव की जन्मपत्री तात्या जी ने स्वयं बनाई थी। तात्या जी ने पुरुषसूक्त की टीका की थी जिसको पीछे से रानडे ने छपवाया था।

अमृतराव तात्या के पिता भास्करराव उपनाम आप्पा जी भी अपने समय में बड़े प्रसिद्ध थे। पीछे जब वे पल्टन के अफ़सर हुए तो उन्होंने मुसलमानों से एक क़िला जीत कर अपने राजा को दे दिया। इसके अनंतर सांगली की ओर

से राजदूत नियुक्त होकर वे अँग्रेजी सरकार में रहने लगे। राजा ने इनको जागीरें दीं। ये ६५ वर्ष की अवस्था में अंत समय तक ईश्वर की उपासना करते हुए परलोक को सिधारे।

आप्पा जी की माता कृष्णाबाई के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनकी संतान बचती नहीं थी। इस पर उन्होंने बारह वर्ष तक अनेक व्रत किए। वे प्रति दिन पीपल और गाय की परिक्रमा करतीं और गोमूत्र में गूँधे हुए आटे की रोटी खातीं।

रानडे के पूर्वजों का जो संक्षिप्त वृत्तांत ऊपर लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि जिस परिवार में वे उत्पन्न हुए थे उसमें कई पुरुष पराक्रमी, धर्मनिष्ठ और शास्त्रवेत्ता थे।

बाल्यावस्था में रानडे बड़े शरमाऊ और बोदे मालूम होते थे। वे अपने पिता और दादा से दूर रहते थे। उन्होंने अपने दादा अमृतराव से सब से पहले २२ वर्ष की अवस्था में एम. ए. पास करने के उपरांत वार्तालाप किया था। औरों से भी वे बहुत कम बात चीत करते थे। एक बेर इनकी माता गोपिकाबाई बैलगाड़ी पर इनको कोल्हापुर ले जा रही थीं। रात्रि का समय था। अनुमान दो बजा था। मार्ग ऊँचा नीचा था। गाड़ी को धक्का लगने से ये नीचे गिर पड़े। सब लोग सोए हुए थे, गाड़ी आगे की ओर चली जा रही थी। किसीको इस घटना की सूचना भी नहीं हुई। रानडे की अवस्था उस समय ढाई वर्ष की थी। भाग्यवश उनके चाचा जो घोड़े पर सवार थे, किसी कारण पिछड़ गए थे। जब रानडे ने उनके घोड़े की टाप सुनी तब उन्होंने अपने चाचा को बुलाया। उनके चाचा ने उनको उठा कर पहचाना

और अपने साथ लेजा कर उनकी माता के सुपुर्द किया।

बचपन में रानडे के परिवार के साथ आबासाहेब कीर्तने का भी परिवार रहता था। कीर्तने कुल के बालक बड़े होशियार थे। वे बात चीत में बड़े चतुर थे। स्कूल में जब वे परीक्षा पास करते घर आकर बड़े प्रसन्न होकर सब से कहते थे, परन्तु रानडे ने कभी अपनी परीक्षा का हाल घरवालों को नहीं सुनाया। एक दिन घरवालों ने उनको उलहना दिया कि तुम अपने पास होने का हाल किसीको नहीं कहते। उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें कहने की कौन बात है, जब अभ्यास करते हैं तब पास ही होंगे। इसमे विशेषता ही क्या है ?

इनकी माता बड़ी चिंता मे रहती थीं। वे कहा करतीं थीं कि इसके लिये १०) महीना भी कमाना कठिन है।

इनका मनोरंजन यह था कि जो कुछ ये पढ़ कर आते थे उसको घर की दीवार पर या ज़मीन में धूल पर लिखा करते थे।

रानडे को जो बात एक बार समझा दी जाती थी उसी के अनुसार वे सब काम करते थे। जो कार्य वे एक दिन करते थे प्रायः प्रति दिन उसके करने की चेष्टा करते थे। एक ही रास्ते से वे रोज जाते थे। पाठशाला से आने पर उनको जो भोजन मिलता था उसमें थोड़ा सा घी रहता था। एक दिन घर में घी नहीं था। इन्होंने उसके लिये जिद की। इस पर इनकी माँ ने घी के बर्तन में पानी डाल कर और उसको गरम करके इनके भोजन में डाल दिया। इन्होंने प्रसन्नता-

पूर्वक भोजन कर लिया। इनकी बहिन ने हँस कर कहा कि महादेव को घी के बदले पानी दे दिया, पर इन्होंने इसकी कोई पर्वाह नहीं की।

ये स्नान करते समय पहला लोटा सिर पर डालते ही पुरुष-सूक्त का पाठ करते थे। कोई बीच में बोलता तो वे बुरा मानते थे। एक दिन ये संध्या कर रहे थे कि इनके चाचा ने बीच में रोक कर इनसे संध्या के संबंध में कुछ प्रश्न पूछे। प्रश्नों का ठीक उत्तर देकर आपने अपने चाचा से पूछा कि बतलाइए मैंने संध्या कहाँ से छोड़ी थी। उन्होंने कहा कि तुम फिर से संध्या आरंभ कर दो, पर रानडे ने एक न सुनी। अंत में उनके चाचा ने अटकलपच्चू बतला दिया कि यहाँ से तुमने छोड़ी थी। उन्होंने वहीं से फिर संध्या करनी आरंभ कर दी।

इनकी माता त्योहारों पर इनको आभूषण पहनाती थीं, पर ये गहना पहनना अच्छा नहीं समझते थे। वे गोप और कड़ों को तो कपड़ों से ढक लेते थे और अँगूठी के नगीने को मुट्ठी बंद करके छिपा लेते थे।

एक दिन इनकी माँ ने इनको एक बरफी दी। उस समय मजदूरनी का लड़का सामने खड़ा था, इसलिये उन्होंने इनके दूसरे हाथ में आधी बरफी देकर कहा कि यह तू खा ले और यह उस लड़के को दे दे। इन्होंने बड़ा टुकड़ा उस लड़के को दे दिया और छोटा आप खा लिया। माँ ने कहा—"अरे, उस लड़के को तो छोटा टुकड़ा देना था।" महादेव ने कहा—"तुम ने तो इस हाथ का टुकड़ा उसे देने के लिये कहा था, इसलिये मैंने वही दे दिया।" कोई दूसरा मास्टर

रानडे के पिता कहते थे कि मेरा लड़का बड़ा थोदा है, बंबई मे अकेला नहीं रह सकेगा। परंतु लड़कों ने बार बार कहना शुरू किया और बंबई जाकर पढ़ने के लिये वे आग्रह करने लगे। अंत मे लड़कों की बात मानी गई और वे सब सन् १८५६ में बंबई के एलफिंस्टन इंसटीट्यूशन के उस विभाग में दाखिल हुए जिसको अब 'एल्फिंस्टन हाई स्कूल' कहते हैं। उस समय रानडे की अवस्था १४ वर्ष की थी। स्कूल मे भर्ती हुए अभी तीन ही महीने हुए थे कि इनके अध्यापक कैरुसरो हरमुसजी अल्पवाला ने जो कई वर्षों के उपरांत सूरत मे जज और खाँ बहादुर हुए, इनको फ़र्स्ट क्लास मे चढ़ा दिया। सन् १८५८ मे ये एल्फिस्टन कालेज में पढ़ने लगे और इनको १०) फिर १५) और २०) मासिक छात्रवृत्ति मिलने लगी। बंबई विश्वविद्यालय की पहली मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा सन् १८५९ मे हुई। उस परीक्षा मे केवल २१ विद्यार्थी पास हुए थे। इनमें रानडे भी थे। उस समय कुछ विद्यार्थी 'दक्षिणा फेलो' चुने जाया करते थे जो अपना पढ़ना भी जारी रखते थे और जिनको नीचे की श्रेणी में पढ़ाना पड़ता था। फेलो लोगों को कुछ मासिक वेतन मिलता था।

पेशवा सरकार ने संस्कृत के पंडितों और अन्य विद्वानों के सहायतार्थ कुछ धन अलग कर दिया था। उसी धन से अंग्रेजी राज्य में फेलो लोगों की सहायता होने लगी। रानडे भी मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा पास करने के उपरांत जूनियर दक्षिणा फेलो चुने गए और इनको ६०) मासिक मिलने लगा। तीन वर्ष पीछे ये सीनियर दक्षिणा फेलो १२०) मासिक

पर नियुक्त किए गए और तीन वर्ष तक इस पद पर रहे। सन् १८६१ मे उन्होंने लिटिल-गो की परीक्षा और १८६२ मे बी. ए. की परीक्षा पास की। बी. ए. आनर्स की परीक्षा भी इन्होंने उसी वर्ष इतिहास और अर्थशास्त्र मे दी और बड़ी योग्यता से प्रश्नों का उत्तर दिया। इसको पास करने के लिये इनको एक स्वर्णपदक और २००) की पुस्तके पारितोषिक मे मिलीं। इसके अतिरिक्त कालेज के प्रिंसपल, अध्यापकों और विद्यार्थियो ने मिलकर इनको ३००) की एक सोने की घड़ी दी। उस समय आनर्स की परीक्षा बड़ी कठिन होती थी। उसमें केवल पाठ्य पुस्तकों ही से प्रश्न नहीं पूछे जाते थे, बल्कि इस प्रकार के प्रश्न भी आते थे कि जिनसे विद्यार्थी की बुद्धि और गवेषणा की जाँच हो। तीन घंटे के अंदर विद्यार्थियों को प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते थे और चार दिन तक परीक्षा होती थी। पढ़ी हुई साधारण बातों का ही तीन घंटे मे उत्तर देना कठिन होता है, पर जब उनके साथ नवीन बातें पूछी जाँय तो उन सब का उत्तर देना साधारण विद्वता का काम नहीं है। अब तक सब परीक्षाएँ इन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की थीं, पर आनर्स परीक्षा दूसरी श्रेणी मे पास की।

सन १८६४ मे रानडे को एम. ए. की डिग्री बिना परीक्षा दिए ही मिल गई क्योंकि उन दिनो यह नियम था कि जो आनर्स मे बी. ए. पास करता था वह अपने मैट्रीक्यूलेशन पास करने की तिथि से ५ वर्ष के उपरांत एम. ए. हो जाता था।

रानडे की आँखें बाल्यावस्था से ही कमज़ोर थीं। अधिक पढ़ने से और भी कमज़ोर हो गईं। बी. ए. की परीक्षा देने

के उपरांत आँखों का रोग बढ़ गया। ६ महीने तक इनको हरी पट्टी बाँधनी पड़ी। तिस पर भी इन्होंने पढ़ना पढ़ाना नहीं छोड़ा।

सन् १८६६ में इन्होंने एलएल. बी (वकालत) की परीक्षा दी और उसको भी प्रथम श्रेणी में पास किया। नियमानुसार उन्होंने आनर्स-इन-ला की परीक्षा भी उसी साल दे दी और उसको भी प्रथम श्रेणी में पास किया।

शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर की सन् १८६२-६३ की रिपोर्ट में उन पुस्तकों के नाम दिए हैं जो इन्होंने बी. ए. आनर्स के लिये पढ़ी थीं। १८६५-६६ की रिपोर्ट में एलएल. बी. की उन पुस्तकों के नाम छपे हैं जो इनको पढ़नी पड़ी थीं।

रानडे दक्षिणा फेलो थे, इस कारण इनको इस विषय की रिपोर्ट देनी पड़ी थी कि इन्होंने किन पुस्तकों का अवलोकन किया था। इस सूची को देखने से मालूम होता है कि इतिहास की ९ और अर्थशास्त्र की १० पुस्तकें जो उन्होंने पढ़ी थीं वे कितने महत्व की हैं। केवल इतिहास की पुस्तकों के सब मिलाकर ३४००० पृष्ठ से अधिक होते हैं।

इसी प्रकार इन्होने क़ानून की परीक्षा के लिये २८ पुस्तकें पढ़ीं जिनमें से कई पुस्तकों के दो भाग हैं और एक के आठ।

बी. ए. की परीक्षा में अंग्रेज़ी और इतिहास के जो उत्तर इन्होंने दिए थे उनको उस समय के डाईरेक्टर मिस्टर हावर्ड जो परीक्षक भी थे, अपने साथ इँग्लैंड ले गए थे, इसलिये कि वे वहाँ की अपनी परिचित विद्वन्मंडली को दिखलावें कि एक हिंदू विद्यार्थी में किस उच्च श्रेणी की विद्वत्ता है।

एल्फिंस्टन कालेज की जिसमें वे पढ़ते थे, उस समय

की प्रायः प्रति वर्ष की रिपोर्ट में इनके परिश्रम, विद्यानुराग और गवेषणाशक्ति की प्रशंसा की गई है। सन् १८६२-६३ की रिपोर्ट में उस समय के प्रिंसपल सर ए. ग्रैंड ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—"दाक्षिणा के फेलो लोगों में विद्याभिरुचि, सत्यभाषण और आत्मगौरव के गुण हैं। वे बड़े बड़े पद पाने की योग्यता रखते हैं। जहाँ तक मेरा अनुभव है, इससे अधिक कोई बात असत्य नहीं हो सकती कि भारतवासी अँग्रेज़ी शिक्षा पाकर बिगड़ जाते हैं। मैंने अपने कालेज में सदैव यह देखा है कि ज्यों ज्यों विद्यार्थियों में शिक्षा की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों वे अधिक विश्वासपात्र और प्रतिष्ठित होते जाते हैं।"

(३) मित्र-मंडली।

पाठशालाओं के विद्यार्थियों में जो घनिष्ट मित्रता हो जाती है यह बहुधा जीवन पर्यंत रहती है। हर एक विद्यार्थी अपनी रुचि, प्रकृति और अपने स्वभाव के अनुसार मित्र बना लेता है। रानडे से भिन्न प्रकृति के लोगों से भी सहज में मैत्री हो जाती थी और उनके लिये वे आत्म-समर्पण तक करने को सर्वदा तत्पर रहते थे।

काल पाकर उनके कतिपय मित्र इस देश में उच्च पदाधिकारी अथवा अपनी विद्या और देश-हितैषिता के कारण विख्यात हुए। जब वे कोल्हापुर के अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ते थे तब महाराजा होल्कर के भूतपूर्व दीवान रायबहादुर विनायक जनार्दन कीर्त्तने, पूना हाई स्कूल के हेड मास्टर, स्वर्ग-

वासी महादेव मोरेश्वर कुंटे बी. ए. और उसी स्कूल के दूसरे हेड मास्टर विट्ठल नारायण पाठक एम. ए. उनके साथ पढ़ते थे। इसके अनंतर बंबई में आकर मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास करने के उपरांत जब वे जूनियर दक्षिणा फेलो हुए तब उनके मित्र रामकृष्ण गोपाल भांडारकर और जवारीलाल उमियाशंकर याजनिक भी इसी पद पर नियुक्त किए गए। जब उन्होंने एलएल. बी. की परीक्षा दी तो उनके साथी बाल मंगेश वागले थे।

इनके अतिरिक्त रावबहादुर शंकर पांडुरंग पंडित उनके परम मित्रों में से एक थे। एक बेर बंबई सरकार रावबहादुर पंडित से अप्रसन्न हो गई थी। श्रीमती रमाबाई रानडे ने उसका कारण यह लिखा है कि जिस दिन पूना में फीमेल हाई स्कूल खुला था, उस दिन एक विशेष उत्सव किया गया था जिसमें उस समय के गवर्नर, श्रीमान् महाराजा बड़ोदा, ली वारनर साहब तथा अन्य अधिकारी उपस्थित थे। संयोग से श्रीमान् बड़ोदाधीश समय से कुछ पहले ही उठ गए। रावबहादुर पंडित इस स्कूल के प्रबंधकर्त्ता थे। समय अधिक लग जाने के कारण उन्होंने प्रोग्राम से लड़कियों के कुछ गीत कम कर दिए। इसपर ली वारनर साहब असंतुष्ट हो गए और उन्होंने इसका कारण राज्यभक्ति का अभाव बतलाया। तीन चार दिन के अंदर उन्होंने सरकारी आज्ञा भिजवा दी कि रावबहादुर पंडित प्रबंधकर्त्ता के पद से हटा दिए जाँय। श्रीयुत पंडित को इस बात से बड़ा दुःख हुआ। उन्हीं दिनों रानडे सरकारी काम से कई मास के लिये शिमला जा रहे

थे। अपने मित्र का दुःख उनको असह्य मालूम हुआ। आग्रह-पूर्वक वे उनको साथ ले गए और अनेक प्रकार से उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करते रहे। कभी उनसे दिनभर के काम का हिसाब लेते, कभी उनसे हास्य विनोद किया करते। शिमला में एक मेम से कहकर उन्होंने उनको फ्रेंच सिखलाने का प्रबंध कर दिया। जब इस प्रकार उनकी उदासी कम हो गई तब तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन से उनकी दो तीन बार भेंट करा दी।

यही शंकर पांडुरंग पंडित पोरबंदर में बहुत बीमार हुए। डाक्टरों ने इनको बंबई में रहने की सलाह दी। उस समय रानडे बंबई में थे। शंकर पांडुरंग को बंबई में कोई उपयुक्त बँगला रहने के लिये नहीं मिलता था। रानडे ने अपने यहाँ उनको परिवार सहित रहने को स्थान दिया। वे रात दिन उनकी चिंता में रहते थे। कभी कभी रात में कई बेर उनको देखने जाते और रातभर जागते रहते। इसी बीमारी में रानडे के गृह पर ही उनकी मृत्यु हो गई जिसपर रानडे को उतना ही दुःख हुआ कि जितना किसीको अपने सगे भाई अथवा बेटे के मरने पर होता है।

डाक्टर भांडारकर से उनकी मित्रता बड़ी घनिष्ट थी। सन् १८८१ में जब वे बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए तो उस समय डाक्टर भांडारकर बंबई में संस्कृत के अध्यापक थे। रानडे उनके बँगले के पास ही ठहरे थे। दोनों परिवार के लोग प्रति दिन मिलते और एक दूसरे से अत्यंत प्रेम का बर्ताव करते।

बारह वर्ष की अवस्था थी इचलकरंजी के राजा की साली सखूबाई से हुआ था। रानडे के पिता गोविंदराव बालविवाह को बुरा नहीं समझते थे, परंतु वे स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे। रानडे की माता के मरने पर गोविंदराव ने दूसरा विवाह किया था। इसलिये उन्होंने अपनी स्त्री, रानडे की विधवा बहिन और सखूबाई तीनों को मराठी भाषा पढ़ाने का प्रबंध एक साथ ही कर दिया।

सखूबाई बड़ी पतिव्रता थी। उसको अपने पति की सेवा का बड़ा ध्यान रहता था। उसका स्वभाव बड़ा सरल था। सब लोगों को वह प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी, परंतु दुर्भाग्य से ३ अक्तूबर सन् १८७३ मे पूना में छई रोग से उसका देहांत हो गया। उस समय रानडे पूना में सबजज थे। सखूबाई की मृत्यु से उनको बड़ा दुःख हुआ। उसकी बीमारी की अवस्था में उन्होंने रातों जाग कर उसकी सेवा सुश्रूषा की थी।

उसकी मृत्यु पर आप रात को तुकाराम के अभंग पढ़कर अपना समय काटते और कभी कभी पढ़ते हुए प्रेम में गद्गद् हो जाते। प्रायः एक वर्ष तक सखूबाई का जिक्र आते ही उनकी आँखों में जल आ जाता। इसी समय उन्होंने एक मित्र को जिनके घर मे किसीकी मृत्यु हो गई थी, सहानुभूति प्रगट करते हुए यह लिखा था,—"मुझे भी कठिन दुःख हुआ है। कभी कभी ऐसी दुर्घटनाएँ बुद्धि को ऐसा चक्कर में डाल देती हैं कि परम भक्त के चित्त में भी पापमय निराशा और धर्मद्रोही विचार उत्पन्न होने लगते हैं। तुम्हारे अंदर धर्म

का अंकुर दृढ़तापूर्वक जमा हुआ है, इसलिये इस क्षणभंगुर दु:ख से तुम्हारा विश्वास नहीं डगमगाएगा। ऐसे भाव जब चित्त में उठें तो किसी मित्र को उपदेश देना उचित नहीं। परंतु दु:ख से पीड़ित होकर हृदय को इस ज्ञान की प्राप्ति से संतोष होता है कि यह संसार फुलवारी नहीं है।"

उनका दु:ख इस बात से और भी बढ़ गया कि पत्नी के मरने के एक ही महीने के अंदर उनके पिता ने उनके दूसरे विवाह की बातचीत शुरू कर दी। पिता को मालूम था कि रानडे सुधारक हैं, इसलिये संभव है कि किसी विधवा से विवाह कर लें। इधर चारों ओर उनके मित्रों को इस बात की ख़बर लग गई। उनके पास पत्र पर पत्र आने लगे। उनके पिता को इस बात का खटका पहले ही से था, इसलिये उन्होंने चोरी से इनकी डाक खोल कर पढ़नी शुरू की। मित्रों के पत्रों में लिखा रहता था कि परीक्षा का समय है, पिता जी से स्पष्ट कह देना चाहिए कि मैं पुनर्विवाह करूँगा, इत्यादि। ऐसे पत्र प्राय: बंबई से आते थे। इसलिये उनके पिता बंबई के पत्र अपने पास रख लेते और बाकी डाक उनके पास भेज देते।

संयोग से उसी समय उनके पिता के एक मित्र अपनी कन्या रमाबाई के लिये वर ढूँढ़ने पूना आए। इन दोनों में विवाह संबंधी बातें हुई। गोविन्दराव ने अपनी ओर से एक विद्वान कर्मनिष्ठ और शुद्धाचारी सज्जन को लड़की के देखने के लिये भेजा। उन्होंने लड़की को पसंद कर लिया और दूसरे दिन रमाबाई को लेकर उसके पिता पूना पहुँचे। रानडे को इन बातों की कुछ भी ख़बर नहीं थी। जब गुप्त रीति से

उनके पिता ने विवाह का सब प्रबंध कर लिया तब वे गनडे के पास गए और इस प्रकार बातचीत हुई—

"तुम्हारे लिये आवश्यक है कि तुम अब दूसरा विवाह कर लो।"

"मैं अब विवाह नहीं करूँगा।"

"क्यों ?"

"मैं छोटा नहीं हूँ, मेरी अवस्था ३२ वर्ष की हो चली।"

"परंतु सारी अवस्था विचारपूर्वक बिताना कठिन है।"

"कुछ भी कठिन नहीं। बहिन दुर्गा मुझसे भी छोटी है। वह २२ वर्ष की ही अवस्था मे विधवा हो गई थी। आपको उसकी कुछ भी चिंता नहीं, परंतु मेरे विवाह के लिये आप आग्रह करते हैं। आपको लड़की से कम स्नेह नहीं है।"

"मुझे डर है कि कहीं बुढ़ापे मे तुम्हारे कारण मेरी दुर्दशा न हो।"

"मेरे कारण आपको कष्ट नहीं पहुँच सकता।"

"कहीं तुम किसी विधवा से विवाह न कर लो।"

"यदि इससे आपको संतोष हो जाय तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विधवा से विवाह नहीं करूँगा।"

"परन्तु बिना ब्याहे रहना ठीक नहीं।"

"यदि आप दुर्गा बहिन का व्रतपूर्वक रहना उचित समझते हैं तो विश्वास रखिए, मैं भी व्रतपूर्वक रहूंगा।"

"तुमने अब तक मेरी बात नही टाली।"

"मैं आपकी आज्ञा सदा मानने के लिये तैयार हूँ, परन्तु आपसे प्रार्थना है कि आप मेरा कथन भी सुने।"

इसी प्रकार दोनो मे बहुत देर तक बातचीत हुई। रानडे विवाह करने से बराबर इनकार करते गए, पर उनके पिता ने एक न सुनी और उनके पास से उठ गए। उसी दिन उन्होंने स्वयं जाकर लड़की को देखा और एकादशी का मुहूर्त्त निश्चय कर लिया। सायंकाल वे लड़की के पिता को साथ लेकर रानडे के पास गए। रानडे को उस समय तक कुछ भी भेद मालूम नहीं था। इन लोगों के जाने पर उन्होंने खड़े होकर आदर किया। गोविंद राव ने उनका परिचय देकर सब कथा कह सुनाई। रानडे ने उनसे पूछा कि "आपने क्या समझ कर अपनी कन्या मुझे देने का विचार किया है। मैं सुधारक दल मे समझा जाता हूँ। मैं विधवाविवाह का पक्षपाती हूँ। मुझे *विलायत* भी जाना है और वहाँ से आकर मैं प्रायश्चित्त भी नहीं करूँगा। इसके अतिरिक्त देखने में तो मेरा शरीर हृष्ट पुष्ट मालूम होता है पर मेरी आँखें और कान खराब हैं।"

कन्या के पिता ने कहा–" भाऊ साहब (गोविंदराव) ने ये सब बातें मुझसे पहले ही से कह दी हैं, तिसपर भी मैंने कन्या आप ही को देने की प्रतिज्ञा की है। "

तीनों आदमियों में बहुत देर तक बातें हुईं, पर उनके पिता ने एक न सुनी। विवश होकर रानडे ने कहा कि "आप और सोचिए, मैं सब बातें आप ही पर छोड़ देता हूँ। मुझे छः महीना और समय दीजिए। " इस पर वे दोनों उठकर चले गए। थोड़ी देर पीछे गोविंदराव फिर आए। रानडे ने उनको अत्यंत दुःखी देखकर कहा—" मैं तो उनसे कह चुका हूँ कि अभी छः महीना विवाह नहीं करूँगा और सब बातें

आप पर छोड़ दी हैं।" उनके पिता ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया और वे घंटों सोच विचार में डूबे रहे। रानडे का हृदय बड़ा कोमल था। वे किसीको दुःखी नहीं देख सकते थे। पिता की यह अवस्था देखकर वे भी व्याकुल थे। उन्होंने अपने पिता से कहा—"आप मेरी एक भी बात चलने नहीं देते।' इसपर उनके पिता ने उत्तर दिया—"मैंने तुम्हारी कही हुई बातों पर खूब विचार किया। मुझे तुमपर विश्वास भी है। पर मेरी इस समय वृद्धावस्था है। मेरा अंत समय अब आ रहा है। तुम नवयुवक हो, अभी नया जोश है। गत १५ दिन के अंदर तुम्हारे बंबई के मित्रों ने जो पत्र तुमको भेजे हैं उनको मैंने अपने पास रख लिया है। उनको पढ़कर मैं तुम्हारी बातें मानने के लिये तैयार नहीं। मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम्हारे मित्र बराबर तुम्हारा कान भरते रहेंगे, जो बातें वे कहेंगे वे तुम्हारे भी विचारों और वय के अनुकूल होंगी। तुम स्वतंत्र भी हो, इसलिये नए विचार जल्दी जोर पकड़ लेंगे। मैं छः महीने की अवधि भी नहीं दे सकता। इसमें हमारे पारिवारिक सुख में अंतर पड़ेगा। तुम समझदार हो। मैं इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि यदि विवाह न हुआ तो लड़की को कैसे लौटा सकूँगा? इसमें मेरा तो अपमान हो ही गा, पर मुझे ख्याल लड़की के पिता का है। मेरा तुम्हारा संबंध तो अब टूट ही जायगा। मैं यहाँ से अब चला जाऊँगा। जो ईश्वर की इच्छा होगी वही होगा।" जब ये बातें हो रही थी तब दुर्गा उपस्थित थी।

रमाबाई के घराने के लोग वीर और धार्मिक थे। इनकी

माता बड़ी पतिव्रता और दयावती थीं। वे बड़ी सुशिक्षिता भी थीं। उनको चिकित्सा शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। बड़ी बड़ी दूर से उनके पास रोगी आते थे और वे बड़े प्रेम से उनको औषधि मुफ्त दिया करती थीं। सन्ध्या समय वे अपने सब बच्चों को जमा करके पुराण की कथा सुनाया करतीं। रमाबाई लिखती हैं "नई बातें जो अब मैं पढ़ती और सुनती हूँ प्राय भूल जाया करती हूँ। परन्तु उन शिक्षाओं को जो मेरी माता मुझे बाल्यावस्था में देती थीं, अबतक मैं नहीं भूली।"

गोविंदराव ने रानडे से विवाह करने के लिये एक धार्मिक कुल की कन्या को चुना। दिसम्बर १८७३ में रानडे का रमाबाई से विवाह हो गया। विवाह वैदिक रीति से किया गया। पीछे से जो कुछ लौकिक रीति रस्में हुईं, उनमें वे शरीक नहीं हुए। विवाह के उपरांत पति पत्नी साथ भोजन करते हैं। रानडे ने यह भी नहीं किया। वे विवाह के स्थान से पैदल घर आकर अपना कमरा बंद करके बैठ गए। विवाह वाले दिन पिता के कहने पर भी उन्होंने कचहरी से छुट्टी नहीं ली। उनके पिता समझते थे कि सुधारक लोग उनको कचहरी में धक्का देंगे। कई दिनों तक वे किसीसे नहीं बोले। उनका देखने ही से मालूम होता था कि उनको असह्य मानसिक वेदना हो रही है। एक सखूबाई की मृत्यु का दुःख, दूसरे अनिच्छा होने पर भी दूसरा विवाह, तीसरे विवाह भी उनके सिद्धांतों के विरुद्ध!

इस विवाह के सबध में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार

लोग भिन्न भिन्न सम्मति देंगे, पर सब लोग इस बात पर सहमत होंगे कि उन्होंने केवल पितृभक्ति के कारण यह विवाह किया था। वे नहीं चाहते थे कि उनके पिता के पारिवारिक सुख में उनके कारण किसी प्रकार का विघ्न पड़े। इसीलिये उन्होंने अपने मित्रों को रुष्ट किया और अपना उपहास कराया। इस संबंध मे श्रीमती रमाबाई रानडे लिखती हैं— "मुझे तो यह प्रतीत होता है कि उनकी सारी जीवनी में सच्चे स्वार्थत्याग और मन की बड़ाई का जो कुछ अंश है उसमें अत्यंत उदात्त और महत्त्वपूर्ण यही है। इस संबंध में कोई कितनी ही निंदा करे मुझे तो इस कार्य के लिये उनका आदर ही होता है। सच्ची भक्ति से यदि उनका चरित्र पढ़ा जाय तो सब का यही विचार होगा।" रमाबाई के इस कथन का बहुत से लोग समर्थन नहीं करेंगे।

विवाह के अवसर पर रमाबाई के पिता ने अपने कुटुंब की स्त्रियों को नहीं बुलवाया क्योंकि रानडे ने अपने पिता से वचन ले लिया था कि विवाह में केवल वैदिक विधि और हवनादि होंगे। स्त्रियों के आने से इसमें अवश्य विघ्न पड़ता।

रमाबाई के पिता उसको ससुराल छोड़ कर अपने घर चले गए। उसी दिन रानडे कचहरी से आकर रमाबाई को ऊपर ले गए और उन्होंने उससे पूछा—"तुम्हारे पिता गए ?" उसने कहा—"हाँ" फिर उससे अपना नाम पूछा। उसने आज्ञा पाकर उनका पूरा नाम जो सुना था, कह सुनाया। इसके उपरांत उसके घर के संबंध में कई प्रश्न करके पूछा—"तुम पढ़ना लिखना जानती हो कि नहीं ?" वह बिचारी कुछ पढ़ी

श्रीमती रमाबाई रानडे ।

लिखी नहीं थी। उसने उत्तर में स्पष्ट यही कह दिया। बस, उसी समय रानडे ने उसको स्लेट पेंसिल देकर पढ़ाना आरंभ कर दिया। १५ दिन में वह बारहखडी आदि सीख कर मराठी की पहली पुस्तक पढ़ने लग गई। जब उसको पढ़ने लिखने में स्वयं आनंद मिलने लगा तब पढ़ाने के लिये 'फीमेल ट्रेनिंग कालेज' की एक अध्यापिका रक्खी गई जिसकी अवस्था अभी बहुत छोटी थी। शिक्षिका और शिष्या दोनों ही के छोटे होने के कारण आपस में खूब बातें होती थीं और इसीमें एक घंटा बीत जाता। कभी कभी यदि दो एक पृष्ठ पढ़े भी गए तो अध्यापिका के चले जाने पर फिर पुस्तक नहीं खुलती थी। इसी बीच में रानडे तीन महीने के लिये देशाटन को चले गए। बस, पीछे सब पढ़ना लिखना प्रायः बंद सा हो गया। जब उन्होंने प्रवास से लौट कर देखा कि रमाबाई ने विद्याभ्यास में कुछ विशेष उन्नति नहीं की है तब अध्यापिका से शिकायत की। अध्यापिका ने कहा—"यह देहातिन है, इसको पढ़ना लिखना नहीं आयगा। आप पढ़ा कर देख लीजिए। मैं तो इसके साथ बहुत परिश्रम कर चुकी।"

इस पर रमाबाई की आँखों में आँसू भर आए और वह पढ़ने में ध्यान भी देने लग गई। अब उसको सगुणाबाई नाम की उसी कालेज की दूसरी अध्यापिका पढ़ाने लगीं। वह शांत और सुशील थीं। दो वर्ष में पाँचवें दर्जे की पढ़ाई समाप्त हो गई।

सब के सामने अपनी स्त्री को पढ़ाना प्रायः बुरा समझा जाता है, परंतु रानडे इसकी परवाह नहीं करते थे। वे सर्वदा

दो घंटा रमाबाई को पढ़ाते थे। विद्याभ्यास में रमाबाई को बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। रानडे की सौतेली माँ और बहिन को गोविंदराव ने कुछ थोड़ा पढ़ाने का प्रबंध कर दिया था। वे साधारणतः पढ़ लिख सकती थीं। पर रमाबाई को पढ़ते देख वे बहुत बुरा मानती थीं। उस समय घर में रिश्ते की कुछ और स्त्रियाँ भी थीं। वे सब मिलकर रमाबाई से हँसी ठट्ठा करतीं। वह कभी कभी पद्य की पुस्तकें उच्च स्वर से पढ़ती तो सब चिढ़ाने लगतीं—"सुनो, तुम इतनी बातें सुनती हो, फिर भी पढ़ना नहीं छोड़ती। तुमको अपना अधिकांश समय स्त्रियों ही में बिताना चाहिए। यदि वह तुम्हें पढ़ने के लिये कहें भी तो उसपर ध्यान न दो। आपही कहना छोड़ देंगे।"

रमाबाई के दो छोटे देवर थे। वे अँग्रेज़ी पढ़ते थे। उन्हें अँग्रेज़ी पढ़ते देख रमाबाई ने एक दिन रानडे से कहा—"मैं भी अँग्रेज़ी पढ़ लेती तो अच्छा होता।" रानडे को बड़ा आश्चर्य और आनंद हुआ। उन्होंने कहा—"हमारी भी यही इच्छा है। परंतु तुम्हारा मराठी का अभ्यास समाप्त होने पर अँग्रेज़ी आरंभ होगी।"

कुछ महीने बाद मराठी शिक्षा समाप्त हुई और अँग्रेज़ी आरंभ हुई। इसके पढ़ने में समय अधिक लगता था। इससे दूसरी स्त्रियाँ और भी बुरा मानने लगीं। एक दिन रमाबाई के हाथ में एक अँग्रेज़ी अख़बार का टुकड़ा देख कर ननद दुर्गा ने बिगड़ कर कहा—"तुम्हारा आफ़िस ऊपर है, वहाँ चाहे तुम पढ़ो चाहे नाचो, यहाँ इसकी ज़रूरत नहीं।

हमारी पहली भाभी ने भी लिखना पढ़ना सीखा था, पर हम लोगों के सामने कभी उसने किताब छुई तक नहीं। भैया ने उसे भी अँग्रेजी पढ़ाने के लिये कितना ज़ोर दिया था परन्तु उसने कभी उस ओर ध्यान भी नहीं दिया। यदि भैया उससे दस बात कहते तो वह एक करती। उसमें ये गुण नहीं थे।" इस प्रकार बात बात पर वे उसे झिड़क देतीं पर वह शांत होकर सुन लेती। उसने पढ़ना नहीं छोड़ा।

कुछ दिनों के बाद रानडे नासिक बदल गए। वहाँ दूसरी स्त्रियाँ साथ नहीं गई। इसलिये पढ़ाई का प्रबंध बहुत ठीक हो गया। सबेरे घंटे दो घंटे पढ़ाई होती, संध्या समय एक घंटा मराठी समाचार-पत्र पढ़े जाते और भोजनोपरांत रानडे रमाबाई से रात के दस बजे तक मराठी पुस्तकें पढ़वाते। प्रातःकाल ४ बजे उठ कर वे रमाबाई को संस्कृत श्लोक याद कराते और उनके अर्थ स्वयं समझाते और प्रति दिन रमाबाई से श्लोक पढ़वा कर सुनते।

जब अँग्रेजी की दूसरी पुस्तक समाप्त हो गई रानडे ने इसाप्स फेबल्स और अंजील पढ़ाना आरंभ किया और घर का सब खर्च और हिसाब किताब रमाबाई के जिम्मे कर दिया। धीरे धीरे देशहित के कामों में भी रमाबाई का प्रवेश होने लगा। रानडे और वहाँ के जाइंट जज रावबहादुर गोपालराव हरी देशमुख ने जो सनातन धर्मावलम्बी थे, मिल कर यह विचार किया कि नगर की स्त्रियों को एक स्थान पर जमा करके कभी कभी सीता, सावित्री आदि प्राचीन साध्वी स्त्रियों के जीवन-चरित्र सुना कर उनका ध्यान शिक्षा की ओर

आकर्षित करना चाहिए। इस काम में रमाबाई और श्रीमती देशमुख से सहायता ली जाती थी। एक बेर लड़कियों की पाठशाला का उत्सव किया गया। उसमें प्रतिष्ठित घरों की स्त्रियों को निमंत्रण देने के लिये रमाबाई और देशमुख की लड़कियाँ लोगों के घर पर गईं। उत्सव की समाप्ति पर सभापति और उपस्थित स्त्रियों को धन्यवाद देने के लिये रानडे ने रमाबाई को एक लेख दे दिया जिसको उन्होंने वहाँ पढ़ा। इस प्रकार रमाबाई में देशहित के कार्यों के लिये अनुराग उत्पन्न होने लगा।

जब कुछ महीनों के लिये रानडे बंबई के प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट हुए तब रमाबाई प्रति शनिवार को आर्य-महिला-समाज में जातीं और कभी कभी निबंध लिख कर पढ़ा करतीं अथवा व्याख्यान देतीं। रानडे जब फिर पूना में बदल गए तो वहाँ उन्होंने स्त्रियों की एक सभा स्थापित की। उसमें खगोल, भूगोल, इत्यादि विज्ञान संबंधी पाठ दिए जाते जिनको स्त्रियाँ दूसरे अधिवेशन में लिखकर लातीं और उनके लेख शुद्ध किए जाते। परंतु पूना आकर घरवालों का विरोध फिर आरंभ हुआ। इस समय रमाबाई की प्रबल इच्छा संस्कृत पढ़ने की थी, पर घरवालों के विरोध के कारण वह पूरी न हो सकी। कुछ महीनों के लिये जब रानडे को दौरे का काम करना पड़ा, तब उन्होंने जनाना मिशन की एक मेम को रमाबाई को अँग्रेज़ी पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। इस पर घर की स्त्रियाँ बड़ी अप्रसन्न हुईं और उन्होंने रमाबाई से बोलना छोड़ दिया। इस समय रानडे भी दौरे पर रहते थे, इस कारण रमाबाई को बड़ा

दुःख होता था। एक दिन घरकी एक स्त्री ने कहा—"मेम से छूकर तुम नहाती नहीं, केवल कपड़े बदल लेती हो, यह बात ठीक नहीं है। यदि तुम्हें नहाना न हो तो तुम ऊपर बैठी रहा करो, वहीं तुम्हारा भोजन पहुँच जायगा। अब तो तुम्हें भी मेम बनना है। घर के काम धंधे के लिये तो हम लोग मजदूरनियाँ हैं ही।' इसपर रमाबाई ने मेम से पढ़ने के पीछे भी नहाना शुरू कर दिया। जाड़े के दिन थे। तीसरे पहर नहाने के कारण ज्वर आने लगा। घर के लोगों ने रानडे को पत्र लिखा। जब वे दौरे से लौटे, उन्होंने नहाना मना कर दिया और कहा—"घरवालों की अप्रसन्नता का ख्याल मत करो। चाहे जो हो, पढ़ना न छोड़ो।' घरवालों को भी उन्होंने समझा दिया। दूसरे दिन दोपहर को जब मेम आई तो ननद ने कहला भेजा—"अब नहा कर हमारे घर बीमारी न लाओ। हम लोग अपने कामों के लिये बहुत हैं, जो मन में आवे करो।"

इन्हीं दिनों पंडिता रमाबाई नाम की एक संस्कृतज्ञ विदुषी स्त्री पूना में आईं। वे पुराण का पाठ बड़ी विद्वत्ता से करती थीं। उन्हें श्रीमद्भागवत कंठस्थ था। व्याख्यान भी उनका बड़ा ललित होता था। इसी बीच में रानडे दौरे से आए और उन्होंने अपने घर पर पंडिताजी से पुराण की कथा कहलवाई। इसके अनंतर और लोगों ने भी एक एक सप्ताह तक अपने अपने घर कथा बैठवाई। श्रीमती रानडे प्रति दिन कथा सुनने जातीं, इसलिये उनसे और पंडिता जी से बड़ा स्नेह हो गया। पर इनके घर की स्त्रियाँ पंडिता जी की बड़ी निंदा

करतीं और उनपर अनेक तरह के दोषारोपण करतीं। एक दिन बात ही बात में मालूम हुआ कि पंडिता जी को अँग्रेज़ी पढ़ने का शौक़ है और वे कुछ अंग्रेजी पढ़ी भी हैं। जब उनको यह मालूम हुआ कि रानडे के घर मेम पढ़ाने आती है तब वे भी अँग्रेज़ी पढ़ने रोज़ आने लगीं। अब क्या था! घरवालों का विरोध और भी बढ़ गया। इधर पंडिता जी ने 'आर्य-महिला-समाज' स्थापित की जिसमें प्रति शनिवार को उनके व्याख्यान होते। इस समाज में नए पुराने सब ख़्याल के लोग अपने घर की स्त्रियाँ और बच्चों को भेजने लगे, पर रानडे की बहिन और सौतेली माँ विरोध करने से बाज़ न आतीं। रानडे का नियम था कि वे घरवालों से कोई ऐसी बात नहीं कहते थे जिससे यह मालूम हो कि वे अपना बड़प्पन जतलाते हैं। इसलिये वे घर की स्त्रियों की बात में कुछ नहीं बोलते थे। केवल रमाबाई का उत्साह भंग नहीं होने देते थे। एक दिन दुर्गा ने कहा—"भैया (रानडे) का सभा के लिये इतना आग्रह नहीं है। यह स्वयं अपने मन से जाती है। मुझे और पहली भाभी को भी तो भैया ही ने लिखना पढ़ना सिखाया था, परंतु हमसे कभी उन्होंने ऐसी बातें करने के लिये न कहा। यद्यपि वह जागीरदार की लड़की नहीं थी तो किसी भिखमंगे की भी नहीं थी। वह सुशीला थी, यह तो एकदम पगली है। इसे जो कुछ कहो चुपचाप सुन लेती है, पर करती है अपने मन की ही।" इन दिनों रानडे दौरे पर रहते थे।

बरसात शुरू होते ही दौरा बंद हो गया। अब प्रति

शनिवार को रमाबाई रानडे के साथ सभा मे जातीं। जाते समय अपनी सास और ननद से पूछ भी लेतीं, पर सभा से आने पर वे उनकी बड़ी दुर्गति करतीं। दो तीन दिन तक बात चीत भी न करतीं। प्रति सप्ताह यही अवस्था होती, यद्यपि उस समय मेम भी छुड़ा दी गई थी।

इन्हीं दिनों पूना मे यह विचार हुआ कि स्त्रियों के लिये एक हाई स्कूल खोला जाय। इसके लिये एक बड़ी सभा की गई जिसमें बहुत से स्त्री पुरुष आए और उस समय के गवर्नर सर जेम्स फर्यूसन भी पधारे थे। उस सभा के लिये एक अभिनंदनपत्र अंग्रेजी मे रानडे ने लिख दिया और रमाबाई से उसको पढ़ने के लिये कहा। रमाबाई ने उसको सभा मे पढ़ा। जब इसकी खबर घर पहुँची तब स्त्रियों मे बड़ा आंदोलन मचा। रानडे की सौतेली मा ने जिनको वे निज माता के समान आदर की दृष्टि से देखते थे, रमाबाई को सुनाकर बड़े कठोर शब्दों मे व्यंग्य बातें कहनी आरंभ कीं। रात को जब रानडे घर आए तो उनकी माँ ने कहा—"पहले की स्त्रियाँ बोलना तो दूर रहा, मरदों के सामने खड़ी भी न होती थीं। पुराण-वाचन के सिवाय स्त्री-पुरुष को एक साथ बैठे नहीं देखा। अबकी औरतें कुर्सी लगाकर मरदों के सामने बैठती हैं। उन्हीं की तरह पढ़ती हैं, लिखती हैं, सब कुछ करती हैं। हजारों आदमियों के बीच मे अँग्रेजी पढ़ते इसे लाज न आई। पढ़ाने लिखाने से औरतों की आँख का पानी उतर जाता है। वेंकटेश स्तोत्र, शिवलीलामृत आदि पढ़ लिया, बहुत हुआ। अभी इसे अँग्रेजी पढ़ाना छोड़ो

दो—" इत्यादि। इन बातों को सुनकर रानडे हँसते जाते और किसी बात का जवाब न देते। परंतु रमाबाई को बड़ा दुःख हुआ। उसने उस दिन भोजन नहीं किया और रोने में समय बिताया। ऐसी बातें सुनते सुनते उसको बरसों हो गए, परंतु रानडे से इन बातों को कभी भी वह न कहती। हाँ, रानडे उसको सुस्त देखकर समझ जाते और धैर्य देते थे।

रमाबाई जब अपने पिता से अलग हुई थी तब उन्होंने इससे कहा था कि "अपना स्वभाव ऐसा रखना कि जो तुम्हारी कुलीनता को शोभा दे और घर में चाहे जो हो, कभी स्वामी के सामने किसी की चुगली न खाना। इन दो बातों का ध्यान रक्खोगी तो तुम्हें किसी बात की कमी न होगी। तुम भाग्यवती हो, यदि तुम सहनशील बनोगी तो तुम्हारा उचित आदर होगा और तभी हमारे घर में तुम्हारा जन्म लेना सार्थक होगा।"—इत्यादि शिक्षा की बातें रमाबाई के पिता ने पहले ही से कह दी थीं। इधर रानडे भी इनको धैर्य की शिक्षा देते थे। जिस दिन रमाबाई ने गवर्नर के सामने ऐड्रेस पढ़ा था और घर आकर बातें सुनी थीं उसी दिन रात को हँसते हुए उन्होंने कहा था—"क्यों, आज तो खब बहार हुई। परंतु अब तुम्हें और भी नम्र और सहनशील होना चाहिए। माता जी ने जो कुछ कहा, वह अपने समय की समझ के अनुसार, उसमें उनका कुछ दोष नहीं है, परंतु तुम्हें उत्तर देकर उनका मन न दुखाना चाहिए। मैं जानता हूँ कि ऐसी बातें चुपचाप सुनना बहुत कठिन और कष्टदायक है, परंतु यह सहनशीलता तुम्हारे भविष्य जीवन

में बहुत काम आवेगी। लोग तुम्हारे विरुद्ध चाहे जितनी बातें कहें इसी सहनशीलता के कारण तुम्हें उनसे कुछ भी कष्ट न होगा। इसलिये किसी की परवाह न करके जो कुछ उत्तम और उचित जँचे, वही करना चाहिए"—इत्यादि। इन घटनाओं ने और रानडे की सहनशीलता की शिक्षा ने रमाबाई पर बड़ा प्रभाव डाला। धीरे धीरे उन्होंने बरदाश्त करना सीख लिया, परंतु अपनी आत्मोन्नति के उपायों के अवलंबन को नहीं छोड़ा।

दौरे में रमाबाई भी रानडे के साथ जाने लगीं। रास्ते में जहाँ कहीं कन्या पाठशालाएँ मिलतीं, वे रमाबाई को उनके देखने के लिये भेजते। नासिक में लड़कियों के स्कूल में उन्होंने रमाबाई से व्याख्यान दिलवाया। फिर पूना में एज्यूकेशन कमीशन की सभा में रमाबाई का भाषण हुआ जिसकी स्वयं रानडे ने भी प्रशंसा की। रमाबाई को रानडे के साथ भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रांत में देशाटन करने का भी अवसर मिला। कलकत्ते में रानडे ने आप बँगला भाषा सीखकर रमाबाई को सिखलाई।

गृहस्थी का भार सँभालने की जिम्मेदारी भी उन्होंने ही सिखलाई। पहले घर का खर्च रसोइए के सिपुर्द था। रुपया रमाबाई के पास रहता और हिसाब रसोइया रखता था। नासिक पहुँच कर रानडे ने लिखने का भार भी रमाबाई पर डाला। इनको हिसाब का जोड़ देने में, भूला भटका हिसाब याद करने में घंटों लग जाते। ऐसी अवस्था में रानडे कभी कभी मदद कर देते। जब हिसाब लिखना उन्हें आ गया

तब आपने एक दिन पहली तारीख को १००) देकर रमाबाई से कहा—"भोजन का खर्च महीना भर तक तुम्हीं चलाना।" इस समय आठ आदमियों का भोजन बनता था। रमाबाई ने समझा कि मास के अंत में इसमें से कुछ बच जायगा।

रानडे को उधार से बड़ी चिढ़ थी। उन्होंने रमाबाई से साफ कह दिया था कि किसी से कोई सौदा उधार न आवे। पहले ही महीने वे घबरा गईं। २५ ही तारीख को सब रुपए खर्च हो गए और इनको चिंता ने आ घेरा। यहाँ तक कि एक दिन वे रोने लगीं। रानडे ने पूछा कि चिंता का क्या कारण है। रमाबाई ने बात को टालना चाहा, पर अनजाने ही बात चीत में इनके मुँह से निकल गया कि "रुपया सब खर्च हो गया।" उन्होंने तुरंत कहा—"रुपया जितना चाहिए ले लो। इसमें रोने का क्या काम? हमें तो तुम्हें गृहप्रबंध की शिक्षा देनी है। रुपया लेती चलो और हिसाब ठीक लिखती चलो।"

धीरे धीरे रानडे अपनी पूरी तनख्वाह (८०० रुपया मासिक) रमाबाई को देने लगे। परंतु रमाबाई ५) से अधिक बिना इनके पूछे खर्च नहीं करती थीं।

इस प्रकार रानडे ने अपनी दूसरी स्त्री को हिंदू रमणियों में रत्न बना दिया। यद्यपि दूसरा विवाह इनकी इच्छा के विरुद्ध हुआ था तथापि इसके कारण ये अपने कर्त्तव्य पालन से नहीं चूके। रमाबाई ने एक पाठशाला की कन्याओं को अपने व्याख्यान में, रानडे के जीवित काल में ही कहा था कि "शिक्षा के कारण स्त्रियाँ स्वतंत्र या मर्यादा रहित नहीं होतीं। सुशिक्षा से पुरुष और स्त्री दोनों ही विनय संपन्न

और नम्र होते हैं। विद्या, संपत्ति और अधिकार प्राप्त करके नम्र होने और पति तथा बड़ों का आदर करने और उनके आज्ञानुसार चलने में ही लड़कियों का कल्याण है।" जो शिक्षा श्रीमती रमाबाई रानडे ने कन्याओं को दी थी उसको अपने जीवन में उन्होंने घटा कर दिखला दिया। जिस प्रकार इन्होंने पातिव्रत धर्म को निबाहा, जितनी अपने पति की सेवा की, जिस तरह कष्ट सहकर भी अपने पति की आज्ञा का पालन किया इसके उदाहरण उस पुस्तक में मिलते हैं जो उन्होंने मराठी भाषा में रानडे के संबंध में लिखी है। वे कभी रात को उनके पैर में घी लगातीं और इसी तरह सवेरा हो जाता, कभी उनको पुस्तकें पढ़ कर सुनातीं, कभी उनके पत्रों के उत्तर लिखतीं, कभी उनके भोजन, जल पान की चिंता में लगी रहतीं। रानडे के बीमार होने पर जितनी उन्होंने उनकी सेवा की, उसका वृत्तांत पढ़कर हृदय गद्गद् हो जाता है। सुशिक्षित और सुधारक दल की होने पर भी जिस प्रकार उन्होंने पतिसेवा की उससे नवशिक्षिता हिंदू रमणियों को आदर्श शिक्षा मिलती है।

एक दिन की कथा है कि रानडे महाबलेश्वर से आ रहे थे। रमाबाई उनके साथ थीं। रास्ते में घाट पड़ा। रानडे का नियम था कि वे नौकरों पर घोड़ों और बैलों का बड़ा ख्याल रखते थे। उनसे इतना ही काम लेते थे कि जितना उचित होता। घाट में जितनी दूर तक चालू रहती, आप पैदल चलते थे। ऐसा ही इस बेर भी उन्होंने किया। रमाबाई भी गाड़ी से उतर गईं, पर बच्चा को सँभाल कर बैठाने में इनको कुछ देर

लग गई। रानडे कुछ आगे बढ़ गए। संध्या का समय था। रानडे की आँखें कमजोर थीं। इसलिये रमाबाई तेज़ी से आगे बढ़ीं। रानडे ने जब उनको तेज़ी से चलते देखा अपना क़दम धीमा कर दिया। इस समय रानडे एक भजन गाते जा रहे थे, इसलिये इनका पास पहुँचना उनको मालूम न हुआ। इतने में एक पुल के पास प्रायः चार इंच लंबे दो काले बिच्छू आगे पीछे चले जा रहे थे। रमाबाई की दृष्टि रानडे के पैरों पर थी, इसलिये उन्होंने इन बिच्छुओं को देख लिया। रमाबाई यह समझ कर कि रानडे का पैर उन पर पड़ने ही चाहता है, घबरा गईं और चिल्लाने ही लगी थीं कि रानडे उनको लाँघ कर आगे बढ़ गए। रमाबाई ने पास जाकर घबराई हुई आवाज़ से पूछा—" पैर में चोट तो नहीं आई?" उन्होंने कहा—", क्यों, क्या हुआ, दम क्यों फूल रहा है ?" रमाबाई के आग्रह करने पर वे सड़क के एक ओर पत्थर पर बैठ गए। तब रमाबाई ने बिच्छुओं का सब हाल सुनाया और कहा—" आज बड़ा भारी अरिष्ट टल गया। यदि पाँव उन बिच्छुओं से छू भी जाता तो वे डंक मार देते। रात के समय इस जंगल में दवा आदि कहाँ से आती। " कुछ देर चुप रहकर रानडे ने कहा—" अब तो अरिष्ट टल गया न ? इससे यही समझना चाहिए कि ईश्वर सदा हमारे साथ है और पग पग पर हमें सँभालता है। बिच्छुओं पर पैर न पड़कर जो पैर आगे पड़ा यह अवश्य उसी की योजना है। जब तक वह रक्षा करना चाहता है तब तक कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। यही भाव सबको रखना चाहिए—

" जेथें जातों तेथें तू माझा सांगाती।
चालविशी हातीं धरुनीया ॥ "

अर्थात् जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ तू मेरे साथ रहता है, मानों मेरा हाथ पकड़ कर तू मुझे चलाता है। यह अभंग कितना ठीक है। धन्य वे पुरुष और उनका निस्सीम भाव ! जब अपने आप को अनुभव होता है तभी यह युक्ति ठीक मालूम होती है। हम दुर्बल मनुष्यों के लिये ऐसा भाव मन में धारण करना ही मानों बड़ी सामर्थ्य है और उसी में अपना कल्याण है।"

इतने में गाड़ी आ गई और वे उसमें बैठ गए। इस घटना से रानडे की अद्भुत ईश्वर भक्ति का ही नहीं परन्तु रमाबाई की असीम पति-भक्ति का भी परिचय मिलता है।

एक स्थान में रमाबाई लिखती हैं " उस रात को (जब रमाबाई बीमार थी) हम लोगों को निद्रा नहीं आई। रात भर *सैकड़ों विचार मेरे मन में उठते रहे। मैं सोचती यदि* मुझे कुछ हो गया तो आपकी सेवा का प्रबन्ध कौन करेगा। तौभी यदि आप के सामने ही मेरा शरीरात हो जाय तो इसमें बुराई ही क्या है। मुझमें कोई गुण न होने पर भी ईश्वर ने कृपा करके मुझे आप के चरणों तक पहुँचाने का अनुग्रह किया है और मुझे विश्वास है कि मेरा इस जन्म का संबंध भविष्य जीवन में भी बना रहेगा। "

रमाबाई की उक्त पुस्तक की भूमिका में माननीय गोखले ने ठीक लिखा है—" पश्चिमी समाज के अधिकांश परिवारों में दंपति में बहुत अधिक प्रेम होता है, परंतु तौभी उन

लोगों में प्रायः समानता का व्यवहार होता है। परंतु दंपति में उसी प्रकार का प्रेम होते हुए भी पत्नी का पति-सेवा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने में ही अपने को धन्य समझना पूर्वीय स्त्रियों और उनमें प्रधानतः भारतीय स्त्रियों का विशेष मनोधर्म है। यह मनोधर्म हज़ारों वर्षों के संस्कार और परंपरा का फल है और इस पुस्तक में उसका अत्यंत मनोहर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। विचारों और आयुष्यक्रम पर नई शिक्षा, नई कल्पना और नई परस्थिति का नया प्रभाव पड़ने पर भी श्रीमती रानडे के समान स्त्रियों का मनोधर्म, ज्यों का त्यों बना रहता है, इससे सब लोगों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

जिन जिन संस्कारों का विकास श्रीमती के हृदय में रानडे के सहवास से हुआ था, उन सब से वे इस समय अपने देश को लाभ पहुँचा रही हैं। सरकार की ओर से उन्हें विशेष आज्ञा मिल गई है कि वे सरकारी जेलखानों में जाकर कैदियों को धर्म की शिक्षा दें। वे उनको भगवद्गीता और अन्य धार्मिक पुस्तकें पढ़कर सुनाती हैं और चरित्र-सुधार-संबंधी उपदेश करती हैं। आपका प्रभाव भारतीय स्त्रियों पर भी अच्छा पड़ रहा है। आप के व्याख्यान बड़े गंभीर और शिक्षाप्रद होते हैं। महिला-परिषद के पहले अधिवेशन में आपने प्रधान का आसन ग्रहण किया था। आपका पहनावा सीधा सादा दक्षिणी ढंग का है और आपका समय देशहितकारी कामों में ही बीतता है।

पूना में जो सेवा-सदन की शाखा है उसमें आपके द्वारा

स्त्री शिक्षा का प्रचार होता है। स्त्रियों में रोगियों की सुश्रुषा का भाव जिसका आधिक्य उनमें स्वभावतः ही होता है बढ़ाया जाता है और इसका उचित कार्यक्रम बतलाया जाता है। पूना में श्रीमती रानडे के निरीक्षण में हिंदू रमणियों का एक सामाजिक क्लब बहुत दिनों से चल रहा था। इस क्लब ने विचार किया कि स्त्री-शिक्षा-प्रचार संबंधी कुछ कार्य करना चाहिए। उन्होंने सोच विचार के अनंतर निश्चय किया कि जिन स्त्रियों की अवस्था अधिक हो जाय और वे अपढ़ रह जाँय अथवा जिनका पढ़ना विवाह के कारण रुक जाय उनके लिये पाठशाला खोलनी चाहिए।

इस पाठशाला में दो कक्षाएँ खोली गई और २० पढ़ने वाली मिल गईं। मराठी, गणित, अँग्रेजी, गृहचिकित्सा और प्रारंभिक आघातों की चिकित्सा की पढ़ाई आरंभ हुई। २ बजे से ४ बजे तक पढ़ाने का समय रक्खा गया जिसमें स्त्रियों के *गृहकार्य* में विघ्न न पड़े। अक्तूबर सन् १९०९ में बंबई के सेवा सदन की यह पाठशाला शाखा बनाई गई। धीरे धीरे इसमें इतनी उन्नति हुई कि दो कक्षाएँ और २० पढ़ने वालियों से अगस्त १९१५ में ७ कक्षाएँ और २५३ पढ़ने वालियाँ हो गईं। १९०९ से १९१५ तक कुल ७०० स्त्रियों ने शिक्षा पाई। इस समय इसमें सिलाई, बिनाई, रोगियों की सेवा करना सिखलाया जाता है। १९११ से दाई का काम भी सिखलाया जाता है। जो गाना सीखना चाहें अथवा हारमोनियम बजाना सीखना चाहें उनके लिये भी उचित प्रबंध है। १९१४ से अध्यापिकाएँ भी यहाँ तैयार की जाती हैं। वे यहाँ

शिक्षा पाकर स्त्रियों के ट्रेनिंग कालेज की परीक्षा देता है। सेवा-सदन की छात्राएँ अस्पतालों मे गरीब रोगियो को फल बाँटती हैं और उनको धार्मिक पुस्तके पढ़कर सुनाती है। कहीं आग लग जाय अथवा अकाल पड़े तो दुखियो की साहायतार्थ वे बाहर जाती है। वे अपनी संस्था के लिये चंदा मांगती हैं। चंदे से मदन की मासिक महायता इस समय १७० स्त्रियाँ करती हैं जिनमे मे अधिकांश ।।) मासिक देती हैं। चंदा माँगने और दुखियो की महायता करने श्रीमती रानडे भी सबके साथ प्राय: जाती हैं। श्रीमती जी ने मदन के भवन बनने से पहले अपना गृह बिना किराए के और ५०००) नक्द चंदा भी दिया था। इसके अतिरिक्त आपने सदन को १५०००) ऋण भी अपनी जिम्मेदारी पर दिलवाया था।

रानडे की धर्म्मपत्नी की कीर्ति रानडे की आत्मा को शांति प्रदान करेगी।

रानडे के कोई पुत्र नहीं हुआ, केवल एक पुत्री थी। उनके दो सौतेले भाई नीलकंठ और श्रीपाद हैं। नीलकंठ डाक्टर हैं वे दक्षिणी अफ्रिका भी हो आए हैं और युद्ध मे भी भेजे गए थे।

---

(५) सरकारी नौकरी।

वकालत की परीक्षा पास करते ही रानडे को २००) मासिक पर शिक्षा-विभाग में मराठी अनुवादक का पद मिला। २८ मई १८६६ से २० नवंबर १८६७ तक ये उस पद पर रहे। इस बीच में थोड़े दिन के लिये वे अक्कलकोट की रियासत में सरकार की ओर से भेजे गए। रियासत में इनका

काम इतना अच्छा हुआ कि ये ४००) मासिक पर कोल्हापुर में न्यायाधीश चुने गए। पर इन्होंने उस समय तक एडवोकेट की परीक्षा पास नहीं की थी जिसके बिना इनको हाईकोर्ट में बैरिस्टरों की नाईं वकालत करने का अधिकार नहीं था। इसलिये कोल्हापुर की रियासत से इन्होंने इस्तीफा दे दिया। इसी बीच में एलफिन्स्टन कालेज में अँग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रोफेसर का स्थान थोड़े दिनों के लिये खाली हुआ। जब इनसे पूछा गया, इन्होंने उस पद को स्वीकार कर लिया। इनका काम इतना अच्छा हुआ कि जब असली प्रोफेसर साहब लौट आए तब इनके लिये सहायक अध्यापक का नया स्थान बनाया गया। वे इस पद पर सन् १८६८ से १८७१ तक रहे। १८७१ में उन्होंने एडवोकेट की परीक्षा बड़ी योग्यता से पास कर ली। इस समय यदि वे चाहते तो हाईकोर्ट में वकालत करना शुरू कर देते। वकील को परिश्रमी, साहसी, कानून की योग्यता रखनेवाला, अँग्रेजी भाषा में अच्छे प्रकार बोलने की शक्ति रखनेवाला होना चाहिए। ये सब गुण इनमें थे। परन्तु ये बड़े शरमाऊ थे, किसी काम में अपने को आगे नहीं रखते थे, अपनी विद्वत्ता पर इनको विश्वास नहीं था, वे दूसरों को अपने से अधिक योग्य समझते थे, इसलिये वकालत करने की ओर इनकी रुचि नहीं हुई। इसका एक कारण यह भी था कि एलएल बी की परीक्षा पास करते ही इनको बड़ी बड़ी सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। बँधी आमदनी छोड़ कर वकालत करना इनके लिये अब कठिन था।

सन् १८७१ में एडवोकेट की परीक्षा पास करते ही ये बंबई के तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुए और कुछ ही महीनों के पीछे बंबई की स्माल काज़ कोर्ट के चौथे जज हुए। इस पद पर वे २८ जुलाई से २२ सितंबर १८७३ तक रहे।

उसी वर्ष १६ नवंबर को वे ८००) मासिक पर पूना के प्रथम श्रेणी के क़ायममुक़ाम सदराला बनाए गए। ६ फरवरी १८७३ को इसी पद पर वे मुस्तक़िल किए गए। सरकारी नौकरी में इतनी शीघ्र उन्नति इनके अत्यंत परिश्रम और उत्तम न्याय के कारण हुई। तीस वर्ष के नवयुवक को पूना ऐसे स्थान में इतने बड़े पद की प्रथम श्रेणी में बैठा देना प्रमाणित करता है कि सरकार को इनपर पूर्ण विश्वास था। इनके फ़ैसले बड़े विचारपूर्ण होते थे। हर एक मुकदमे की तह में जा कर रानडे एक एक बात पर अपनी स्पष्ट सम्मति देते थे। उस समय बंबई हाई कोर्ट मे सर माइकल वेस्ट्रॉप चीफ़ जस्टिस थे। ये महानुभाव न्याय शास्त्र की योग्यता के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। रानडे के फैसले अपील मे इनके सामने बहुधा जाया करते थे। वेस्ट्रॉप साहब इनके फैसलो को पढ़ कर बड़े प्रसन्न होते थे। एक बेर अपील सुनते हुए उन्होंने कहा कि "जिस सदराला ने इस फैसले को लिखा है वह हम लोगों के साथ हाई कोर्ट में बैठने की योग्यता रखता है।" जब वे पेंशन लेकर अपने देश को गए तब उन्होंने वहाँ से रानडे के पास १५ नवंबर १८८४ को एक प्रशंसापत्र लिख कर भेजा और उसमें यह लिखा कि "बंबई हाई कोर्ट के चीफ़ जस्टिस के पद पर रहकर जितने अवसर मुझे आप

के फ़ैसलों को पढ़ने के मिले—और ऐसे अवसर मुझे कई वर्षों तक मिलते रहे—उनसे मैं कह सकता हूँ कि उस समय बंबई प्रांत में एक भी सदराला ऐसा नहीं था जिसके फ़ैसलों में आपसे अधिक योग्यता और न्याय शास्त्र के ज्ञान का परिचय मिलता हो। आप को अपने काम के करने में आनन्द प्राप्त होता है और उसी का यह फल है।"

आगे चलकर रानडे को दूसरे दर्जे के सदराला लोगों के फ़ैसलों की अपील सुनने का अधिकार मिल गया। यह गौरव इसके पहले किसी सदराला को नहीं मिला था। इस काम को भी योग्यतापूर्वक करने से इनकी प्रशंसा और अधिक होने लगी।

पर किसी के भी दिन सदा एकसे नहीं रहते। सन् १८७८ में रानडे की बदली पूना से नासिक की गई। उस समय सर रिचर्ड टेंपल बंबई के गवर्नर थे। इनको पूना के ब्राह्मण अच्छे नहीं लगते थे। इनका विश्वास था कि ये लोग राज-विद्रोही और फ़सादी होते हैं। इन्हीं दिनों सरकार ने नियम बनाया कि कोई सरकारी अफ़सर किसी स्थान में ५ वर्ष से अधिक न रहे। इसी नियम के अनुसार रानडे पूना से बदल दिए गए, पर इसका असली कारण यह था कि सन् १८७४-७५ में मल्हारराव गायकवाड़ का विषप्रयोग वाला मुक़दमा चल रहा था। किसी ने पूना से एक तार इस आशय का बड़ोदा भेजा कि यदि राज्य मुक़दमा चलाना मंजूर न करे तो महाराज स्वयं अपने पक्ष में मुक़दमा चलावें और उसके लिये पूनावाले एक लाख रुपये तक देने को

तैयार हैं। इन्हीं दिनों एक आदमी कहीं से घूमता फिरता पूना आ ठहरा। उसने सबसे मेल जोल रखने के अनेक उपाय किए। अपने स्थान पर वह पान, बीड़ी, ताश, सितार आदि आमोद की बहुत सी चीजें रखता था। धीरे धीरे उसके यहाँ पूनावाले आने जाने लगे। किसी को यह न सूझा कि एक अपरिचित पुरुष से इतना घनिष्ट संबंध रखना अनुचित है। यहाँ तक कि उस समय की बड़ी प्रतिष्ठित राजनैतिक "सार्वजनिक" सभा के मंत्री सीताराम हरि चिपलूणकर से उसकी बड़ी मित्रता हो गई। इन्हीं दिनों चिपलूणकर जी प्रति दिन रानडे के घर सभा की त्रैमासिक रिपोर्ट लिखने के लिये जाया करते थे। एक दिन रानडे ने उनसे उस आदमी का नाम और पता पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि "वह किसी को अपना नाम और पता नहीं बतलाता पर आदमी बड़ा विद्वान और भद्र मालूम होता है।" रानडे ने कहा—"तुम सबसे पहले इस बात का पता लगाओ कि उसकी डाक कहाँ से आती है ?" तीसरे दिन चिपलूणकर जी ने पता लगा कर कहा "वह टेढ़े सीधे रास्ते से स्वयं डाकखाने जाता है। वहीं वह अपनी चिट्ठियाँ छोड़ता है और स्वयं ही अपनी डाक लाता है। कल उसका एक फटा हुआ लिफाफा मुझको मिला। उसपर शिमले की मोहर है। साथ ही पोष्टआफिस में एक मित्र से मालूम हुआ कि कलकत्ता वा शिमला के गवर्नमेंट सेक्रेटेरियेट से उसका पत्रव्यवहार है। इसलिये आपका संदेह बहुत ही अंशों में ठीक मालूम होता है।" उसी दिन से लोगों का उसके यहाँ जाना आना बंद हो गया। वह भी तीसरे दिन पूना से चलता

बना और चार महीने पीछे रानडे भी नासिक बदल गए।

रानडे कष्ट को कष्ट नहीं मानते थे। दुःख में भी वे सुख की सामग्री ढूँढ लेते थे। नासिक जाकर उन्होंने एक बाग़ ख़रीद लिया जो मनोरंजन का एक साधन बन गया। इसमें वे सायंकाल सैर करते। रमाबाई अपने सामने फुलवाड़ी लगवातीं। इसमें तरकारी भी बोई जाती। नासिक में उन्होंने प्रार्थना-समाज स्थापित की। वे वहां स्त्री-शिक्षा-प्रचार के उपाय करने लगे मानों उन्हें सदा वहीं रहना था।

सर रिचर्ड टेंपल गवर्नरी के पद पर अभी तक विराजमान थे। सन् १८७९ की गर्मियों की छुट्टी में रानडे पूना आए। प्रति दिन नगर के देशहितैषी नवयुवक उनके घर पर जमा होते। देशहित के कार्य्यों के नए नए साधन सोचे जाते। इसी बीच में रानडे के पास सरकारी आज्ञा पहुँची—"छुट्टियां समाप्त होने की राह मत देखो। हुक्म पाते ही तुरंत धुलें जाकर फर्स्ट क्लास सब-जज का चार्ज ले लो।"

इस प्रकार के जरनैली हुक्म द्वारा बदली करने का कारण यह था कि पूना में उस साल वासुदेव बलवंत फड़के नाम के एक मोहर्रिर ने गावों में लूट मार करा दी। फड़के अपने को शिवाजी का अवतार समझता था। उसने इधर उधर से अनेक चोरों और लुटेरों को जमा करके महाराष्ट्र राज्य फिर से स्थापित करने की मन में ठानी थी। वह समझता था कि दूर दूर के गावों में लूट मार करने ही से उसका प्रबल राज्य स्थापित हो जायगा। परिणाम यह हुआ कि वह पकड़ा

गया और अदन भेज दिया गया। एक बेर उसने वहां से निकल भागने का प्रयत्न किया जो निष्फल हुआ। अदन ही में वह मर भी गया। इन्हीं दिनों १६ मई १८७९ को रानडे नाम के एक दुष्ट ने रात को पेशवाओं के महल बुधवारवाड़ा और विश्रामवाग के उस अंश में जहां पूना हाई स्कूल है, आग लगा दी। सवेरे तक यह दोनों स्थान जल कर भस्म हो गए। बुधवारवाड़ा में सरकारी बुक डिपो था। इसकी रक्षा रानडे नामधारी एक नौकर करता था। उसने यहां से बहुतसी पुस्तकें चुरा ली थीं। अपने अपराध को छिपाने के लिये सब पुस्तकों को भस्म कर देना ही उसने उचित समझा। आग लगाने वाले रानडे को पकड़ने में श्रीयुत रानडे ने सरकार की पूरी मदद की। परंतु बंबई के टाइम्स पत्र ने दोनों रानडे को एक ही वंश का बतला कर आग लगाने के अभियोग में दोनों को अपराधी बतलाया। उस समय के गवर्नर रानडे के विरोधी तो थे ही, अन्य सरकारी कर्मचारी भी दूध और पानी को अलग न कर सके। आग लगाने के आठ दिन के अंदर उनको बदली का हुक्म मिल गया। जब रानडे पूना से चलने लगे उनके मित्रों को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उनको सलाह दी कि आप सरकार को लिख दीजिए कि धुले का जलवायु मेरे अनुकूल न होगा। इस लिये मेरी बदली वहां न की जाय। लोगों ने रानडे को सावधान होने के लिये कहा और समझाया कि इस बदली के हुक्म में सरकार का कोई गूढ़ हेतु है। अपने समान सारे संसार का मन निर्मल समझने से काम न चलेगा, इत्यादि। पर रानडे ने साफ़ कह

दिया—"जब तक मुझे नौकरी करनी है तब तक कोई बहाना नहीं ढूँढूँगा। जहां बदली होगी जाऊँगा। यदि कभी ऐसी आवश्यकता पड़ जायगी तो नौकरी छोड़ कर अलग हो जाऊँगा।"

रानडे धुले पहुँचे। धुले खानदेश जिले का मुख्य नगर है। यहां न विद्या का प्रचार है, न देश हित की कुछ चर्चा है। सरकार ने समझा रानडे के लिये यही उपयुक्त स्थान है। उनके मित्र उनको सावधान रहने के लिये यहा भी लिखते रहे। लोगों का संदेह सच निकला। रानडे की चिट्ठियां इनको देर करके मिलने लगीं। किसी किसी चिट्ठी के देखने से यह मालूम होता था कि यह एक बेर खोल कर फिर से जोड़ी गई है। चपरासी से डाक देर करके लाने का कारण पूछा गया। उसने उत्तर दिया कि पोस्ट मास्टर डिलिवरी का काम समाप्त करने के पीछे उनकी चिट्ठियां देते हैं। रानडे समझ गए कि उनकी डाक अवश्य सरकारी आज्ञानुसार खोल कर देरी जाती है।

चिट्ठियों की इस जांच पड़ताल के साथ साथ इनके पास कुछ बनावटी चिट्ठियां भी आने लगीं। किसी किसी में वासुदेव बलवंत फड़के या हरि दामोदर के हस्ताक्षर होते और उन में लिखा रहता कि अमुक स्थान पर बलवा होना निश्चय हुआ है, अमुक हत्यारे हमसे आकर मिल गए हैं, इत्यादि। ऐसी चिट्ठियों को रानडे लिफाफे सहित पुलिस सुपरटेंडट के पास भेज देते।

उस समय धुले के असिस्टेंट कलेक्टर डाक्टर पोलन

थे। एक दिन वे रानडे के घर गए और उनको गाड़ी में साथ बैठाकर हवा खाने ले गए। रास्ते में खूब बात चीत हुई। डाक्टर पोलन की बातों से स्पष्ट मालूम हो गया कि वे रानडे को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। परंतु मिलने पर दिल की सफाई हो गई और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की।

इधर वासुदेव बलवंत फड़के की डायरी पुलिस को प्राप्त हो गई। उसके देखने से मालूम हुआ कि उसके साथियों और सलाह देनेवालों में कोई भी सुप्रतिष्ठित और भला आदमी नहीं था। आग लगानेवाले रानडे ने भी अपने इज़हार में अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

रानडे धुले में थोड़े दिनों के लिये डिस्ट्रिक्ट जज नियुक्त हुए।

इस समय सर रिचर्ड टेंपल के स्थान पर सर जेम्स फर्ग्यूसन गवर्नर हो चुके थे। जब रानडे के उपर से संदेह जाता रहा तब वे बंबई के प्रेसिडेंसी मेजिस्ट्रेट बनाए गए। अब तक इनको दीवानी के मुकदमे करने का अनुभव प्राप्त था, मैजिस्ट्रेट होकर फौजदारी के मुक़दमे करने पड़े। इससे पहले भी आप एक बेर मैजिस्ट्रेट हो चुके थे। फौजदारी का काम आप ने बड़ी योग्यता से किया। परंतु अंग्रेज़ी अखबारों ने एक मुक़द्दमे के कारण इनका बहुत विरोध किया। एक अंग्रेज़ ५०) की चोरी के अपराध पर इनके सामने लाया गया। इन्होंने मुकदमे का सब वृत्तांत सुन कर उसको छः महीने की क़ैद का हुक्म दिया। अंग्रेज़ी अखबारों ने बड़ा आंदोलन मचाया। उन्होंने

लिखा कि रानडे अंग्रेज़ों से द्वेप रखते हैं और अपने देश-वासियों का पक्ष करते हैं। इस कथन के प्रमाण में उन लोगों ने आप के एक फैसले का हवाला दिया जिसमें आपने एक कोचवान को जिसने सौ रुपए के नोट चुरा लिए थे, केवल एक महीने की सज़ा दी थी। उन लोगों ने लिखा कि अंग्रेज को ५०) चुराने के लिये छ: महीने की सजा और हिंदुस्तानी को १००) चुराने पर केवल एक महीने का दंड, यह पक्षपात नहीं तो क्या हो सकता है। रानडे विरोध से डरते नहीं थे और न विरोधियों को प्रत्युत्तर ही देते थे। परंतु थाना स्थान के एक अंग्रेज़ सिविलियन जज ने टाइम्स आफ इंडिया को रानडे के पक्ष में एक पत्र भेजा। उसमें उन्होंने लिखा कि रानडे ने दोनों फ़ैसलों में पूरा न्याय किया और कहीं भी द्वेष अथवा पक्षपात से काम नहीं लिया, क्योंकि जिस अँग्रेज ने ५०) की चोरी की थी उसके पास उस समय भरा हुआ पिस्तौल था जिसको लेकर वह रेल के गार्ड के कमरे में घुस गया और गार्ड को अनुपस्थित पाकर ताला तोड़ कर उसमें से ५०) मूल्य के कपड़े चुरा लाया। यदि उस समय उससे कोई छेड़ छाड़ करता तो वह अवश्य उस पर वार करता और अपने बचाने के लिये शायद खून भी कर देता। इसके विपरीत कोचवान के मालिक ने अदालत से यह कहा कि इसको सौ रुपए के नोट भुनाने के लिये दिए गए थे जिन को इसने अपने पास रख लिया। उसके मालिक ने यह भी बतलाया कि वह बड़ा पुराना नौकर था और उसने पहले कभी चोरी नहीं की थी। उसके मालिक ने

अदालत से प्रार्थना की थी कि उसको हल्का ही सा दंड दिया जाय। इसलिये अँग्रेज़ और कोचवान के अपराध एकसे नहीं थे। अँग्रेज चोर अधिक दंडनीय था।

३ जनवरी १८८१ से २१ मार्च १८८१ तक रानडे बंबई में प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट रहे और वहाँ से प्रथम श्रेणी के सदराला होकर फिर पूना आए। चार महीने के बाद आप पूना और सातारा की कचहरियों के निरीक्षण के कार्य के लिये असिस्टेंट स्पेशल जज नियुक्त हुए। ९ अगस्त १८८१ में उन्होंने यह काम आरंभ किया। इसमें साल में आठ महीने आपको दौरे ही पर रहना पड़ता था। आपका दफ्तर भी आपके साथ रहता था। इस काम में इनके अफसर अर्थात् स्पेशल जज वही डाक्टर पौलन थे जो धूले में असिस्टेंट कलेक्टर थे। इस काम को रानडे ने बड़े उत्साह से किया, क्योंकि स्पेशल जज के कर्त्तव्यों में एक कार्य यह भी था कि दक्षिण देश की रैयत के ऋण को हल्का करे। बहुत से कृषक इतने ऋणी हो गए थे कि इनके बाप दादा के समय की जायदाद गिरवी रक्खी हुई थी और ये लोग साहूकारों की हथेली के नीचे दबे जाते थे। दु:ख को दूर करना तो इनके मन के अनुकूल कार्य था ही, इसलिये इस काम को वे बड़ी सहानुभूति और श्रम से करते थे। सन् १८८१ की वार्षिक रिपोर्ट में डाक्टर पोलन ने इनके संबंध में यह लिखा था कि—"इन महानुभाव के चित्त की ग्रहण-शक्ति और तीव्र निरीक्षण-शक्ति के कारण इनकी सम्मतियाँ महत्व की होती हैं।" १८८२ की वार्षिक रिपोर्ट में फिर डाक्टर पोलन ने इस प्रकार इनकी

प्रशंसा की—"इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके विचार अत्यंत आदर और श्रद्धा के योग्य हैं क्योंकि इनमें स्वाभाविक निरीक्षण शक्ति के साथ यह गुण भी है कि वे प्रत्येक विषय की पूरी तफसील को कार्यरूप में लाने के साधन का ज्ञान भी रखते हैं।"

२७ फरवरी १८८४ को वे पूना के *सर्बार्डिनेट जज* (१२००) मासिक वेतन पर नियुक्त हुए। १ जनवरी से ३० अप्रैल १८८५ तक जजी के काम के साथ साथ वे डेकन कालेज में न्याय शास्त्र के अध्यापक का भी कार्य करते रहे, पर एकौंटेंट जेनरल ने इस पर एतराज़ किया और लिखा कि कोई अफ़सर एक ही समय में दो पदों का वेतन नहीं ले सकता। इसलिये अध्यापक का कार्य इनको छोड़ देना पड़ा।

३० नवंबर १८८५ को डाक्टर पोलन छुट्टी लेकर विलायत गए। सरकार ने रानडे को उनके स्थान पर स्पेशल जज नियुक्त किया। डाक्टर पोलन ने भी इसके लिये उनकी सिफ़ारिश की थी। अब इनको पूना, सतारा, अहमदनगर और सोलापुर के ज़िलों में दौरा करना पड़ता था। जब वे असिस्टंट स्पेशल जज थे उन्हें डाक्टर पोलन के आज्ञानुसार *काम करना पड़ता था,* यद्यपि उक्त साहब उनके *कार्यों में* बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करते थे। स्पेशल जज होने पर उन्हें अब पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। स्पेशल जज का यह कर्तव्य था कि गाँवों के मुक़दमों का फ़ैसला करने के लिये वह पंच मुक़र्रर कर दे और फिर गाँवों में स्वयं जाकर पंचों के फ़ैसलों की जाँच करे। इसमें रैयत का बहुत कम खर्च होता था

कष्ट निस्संदेह दूर नहीं हो सकते, परंतु इसको सब मानते हैं कि इससे लोगों में अपव्यय न करने की ओर रुचि होगी। गवर्नर-इन-कौंसिल को पूरी आशा है कि मिस्टर जौप का शासन ऐसा ही अच्छा होगा जैसा कि मिस्टर जस्टिस रानडे का था जिनके (इस ऐक्ट के) प्रबल समर्थन और सुंदर निरीक्षण ही का फल था कि यह ऐक्ट ऐसा लाभदायक हुआ जैसा संक्षेप में १८९३ की रिपोर्ट में वर्णित है।"

इन्हीं दिनों गायकवाड़ बड़ोदा ने इनको ५०००) मासिक पर अपने यहाँ दीवान बनाना चाहा परंतु रानडे अपने कार्य में जितनी स्वतंत्रता और जितने अधिकार माँगते थे उनको महाराज ने देना स्वीकार नहीं किया।

१३ अप्रैल १८८६ को लार्ड डफरिन की सरकार ने एक कमेटी सर चार्ल्स इलियट के सभापतित्व में इस विषय पर विचार करने के लिये बनाई थी कि भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था कैसी है और उसमें क्या सुधार हो सकता है। इसके एक सभासद सर विलियम हंटर भी थे। इसमें रानडे ही केवल एक हिंदुस्तानी थे। इसके लिये रानडे को प्रायः चार मास तक शिमला में, एक मास मद्रास में और कई महीनों तक कलकत्ते में रहना पड़ा। इस कमेटी ने चुने चुने लोगों के इजहार लिए और बड़ी भारी रिपोर्ट निकाली। परंतु उन सब का फल कुछ भी न हुआ। कमेटी में रानडे ने बड़ी योग्यता और स्वतंत्रता से अपने विचार प्रकट किए और इसी के उपलक्ष में उनको सी० आई० ई० की उपाधि मिली।

कमेटी की समाप्ति पर सन् १८८८ में आप फिर स्पेशल जजी के काम पर लौटे। स्पेशल जजी की अवस्था में आप तीन बेर बम्बई की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सरकार की ओर से मेंबर बनाए गए। सन् १८८५ और १८९० में लार्ड रे साहब गवर्नर और १८९३ में लार्ड हैरिस साहब गवर्नर ने इनको कानून बनाने में सरकार की सहायता करने के लिये कौंसिल का मेंबर नियत किया। कौंसिल का काम जिस योग्यता से उन्होंने किया उसका परिचय इस बात से मिल जायगा कि ६ मई १८८७ को लार्ड रे ने जो पत्र इनके पास भेजा था उसमें लिखा था—"मुझे आशा है कि कौंसिल के मेंबर होकर जो अमूल्य सेवा आपने की है उसके लिये मेरे अनेक धन्यवाद आप स्वीकार करेंगे।"

लार्ड हैरिस ने भी १० मार्च १८९२ को इनके पास एक पत्र भेजा था जिसमे लिखा था—"आपने जो कौंसिल के विचारों में हमारी उज्ज्वल सहायता की थी उसके लिये मैं इस पत्र द्वारा आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।"

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि समय समय पर रानडे को देशी रियासतों में नौकरी करने के लिये कई बेर बुलावा आता रहा। जब वे पूना में सदराला थे तब बड़ोदा में दादाभाई नौरोजी दीवान थे। उन्होंने दीवानी के महकमें की अफ्सरी के काम के लिये इनको चुना था, परन्तु इन्होंने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। सर तानजोर माधवराव ने दीवान होने पर इनको फिर बड़ोदा में २०००) मासिक पर चीफ़ जस्टिस के पद पर बुलाना चाहा। महाराजा होल्कर

ने दो बार इनको ३५००) मासिक पर दीवान बनाना चाहा। सर माइकल वेस्ट्रौप और सर चार्लस सारजेंट जो भिन्न भिन्न समयों पर बंबई हाई कोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे, इनको पूर्ण आशा दिलाते रहे कि आप अँग्रेज़ी सरकार में उच्च से उच्च पद जो हिंदुस्तानी को मिल सकता है, पाएँगे। सर विलियम वेडरबर्न ने भी एक पत्र में इनको यही सलाह दी थी। उन्होंने लिखा था—"देशहित का विचार करके मैं तो यही सलाह दूँगा कि आपके लिए पूना ही में रहना अच्छा है; इस समय पूना बुद्धिमत्ता, स्वतंत्रता और शांति से देशसेवा करने में सारे भारतवर्ष में अग्रगण्य होता हुआ प्रतीत होता है। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पूना का यह गौरव बहुत कुछ आपके प्रभाव के कारण है। यह प्रभाव वहाँ से हटा लिया जायगा तो देश के दुर्भाग्य होंगे।" इन्हीं कारणों से रानडे ने देशी रियासतों की नौकरी स्वीकार नहीं की।

१ सितंबर १८९३ को बंबई हाई कोर्ट के सुप्रसिद्ध जज काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग का देहांत हो गया। उनकी मृत्यु पर रानडे उनके स्थान पर चुने गए। उस समय वे स्पेशल जजों के काम पर सोलापुर में दौरे पर थे। सोलापुर नगर में इस समाचार को सुनकर बड़ा आनंद हुआ और इनके बहुत मना करने पर भी उन लोगों ने स्टेशन से चलते समय बड़े समारोह के साथ इनकी विदाई की। वे सोलापुर से पूना आए। वहाँ के लोगों की खुशी का क्या कहना था। उन दिनों रानडे का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, परंतु वहाँ के लोग रात दिन इनको घेरे रहते थे और वे इतने प्रसन्न थे कि मानों उन्हीं को स्वयं

नियुक्ति हुई है। भारतवर्ष में प्रायः सभी समाचारपत्रों ने इस पर प्रसन्नता प्रकट की। प्रत्येक प्रांत से उनके पास बधाई के पत्र आए। विलायत से लार्ड रे, सर जेम्स पील, सर रेमंड वेस्ट, सर विलियम वेडरबर्न इत्यादि महानुभावों ने इनको पत्र भेजे। सर जेम्स पील ने अपने दूसरी नवम्बर १८९३ के पत्र में लिखा कि "मुझे यह जान कर बड़ा संतोष हुआ कि आप हाई कोर्ट के जज हुए। मिस्टर जस्टिस तैलंग के स्थान पर किसी का भी जज नियुक्त होना बड़े गौरव की बात है, परंतु मुझे पूरी आशा है कि आपको सब लोग इस आदर के योग्य समझते हैं। आपने जो अब तक सेवा की है उसका यह ठीक पुरस्कार है। स्पेशल जजी का जो कार्य आपने किया है वह साधारण और सहल नहीं है-इत्यादि।"

सर रेमंड वेस्ट के दूसरी नवंबर के पत्र के कुछ अंशों का अनुवाद करना आवश्यक है क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि वे अँगरेज़ भी जो सदा इनसे सहमत नहीं रहते थे इनका कितना आदर करते थे। उन्होंने लिखा था—"मैं आपके हाई कोर्ट जज होने पर आपको बधाई देने के लिये चंद सतरें लिखता हूँ। यदि मैं इस समय बंबई गवर्मेंट का सलाहकार होता तो जिसको जज करने का मैं प्रस्ताव करता वही महाशय जज नियुक्त किए गए। हमारे विख्यात और विद्वान् मित्र तैलंग की मृत्यु से जो जगह खाली हुई है उसके लिये आपसे अच्छा कोई दूसरा नहीं मिल सकता। हाई कोर्ट में पहुँच कर आपके देशहित की सीमा बढ़ जायगी × × × × × शायद आप राजनैतिक मरघाओं में अब काम न कर सकें, परंतु आपके जजी का उच्च पद

और आपकी योग्यता जिसको सब लोग स्वीकार करते हैं आपको इस बात का अवसर देगी कि आप अपना प्रभाव देश के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र पर डालें जिसमें लोगों का उपकार हो और उस गवर्मेंट का आदर बढ़े कि जिसके आप एक अंग हैं। इस बात से आपके जाति के नवयुवक लोगों का और विशेष कर जजों का उत्साह बढ़ेगा कि वह योग्यता और बुद्धि का पात्र जिस पर एक बेर ध्यान नहीं गया और दूसरी बेर कोप की दृष्टि की गई उसका अंत में आदर ही हुआ और मुझे पूरी आशा है कि हाई कोर्ट के हिंदुस्तानी जज अब तक जैसे योग्य होते चले आए वही योग्यता आपके आने से क़ायम रहेगी।"

सर रेमंड वेस्ट ने इस पत्र में स्पष्ट लिख दिया कि रानडे की बुद्धि और योग्यता पर कई बेर ध्यान नहीं गया और कभी कभी उन पर वृथा कोप दिखलाया गया। उनका संकेत उस समय पर है जब सर रिचर्ड टेंपल की गवर्नरी के काल में इनको नासिक और धुलें जाना पड़ा था। उनके सब मित्रों का विश्वास था कि जस्टिस नानाभाई हरिदास की मृत्यु पर रानडे जज बनाए जॉयगे, परंतु काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग उस समय वकीलों में प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचे हुए थे। उनकी संस्कृत की व्युत्पत्ति, उनकी वक्तृत्व-शक्ति, उनकी देश-हितैषिता ने सबको आकर्षित कर लिया था। तैलंग रानडे के शिष्य थे, पर तिस पर भी वकील होने के कारण उनकी ओर ध्यान पहले गया। इस बात से रानडे को भी बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई थी और तैलंग महोदय को

बधाई देने के लिये बम्बई में जो सजा हुई थी उसमे रानडे ने बडी प्रभावशालिनी वक्तृता दी थी।

जिस प्रकार अँग्रेज मित्रों ने उनको पत्र भेजे थ उसी प्रकार उनके हिंदुस्तानी मित्रों के भी पत्र आए थे। भारतवर्ष के हर प्रात के समाचार पत्रों ने इनकी प्रशसा की थी और इनकी नियुक्ति पर अत्यत सतोष प्रगट किया था। पूना म उनकी विदाई मे कितने ही भोज और पान सुपारी के जलसे और सभाएँ हुईं। कहीं कहीं तो लोगों ने इनकी इच्छा के विरुद्ध खुशी मे आतिशबाजी भी छुडवा दी। रानडे पूना म २८ वर्ष तक रह चुके थे, इस लिये वहाँ के लोग उनसे बडा स्नेह रखते थे।

बम्बई पहुँचने पर आपका बड़ा आदर हुआ। नवबर १८९३ से जनवरी १९०१ तक आपने हाई कोर्ट की जजी की। इनके साथी जज और बैरिस्टर वकील इनपर बडी श्रद्धा रखते थे। इनके फैसलों का बड़ा आदर होता था। बहुत से अनुभवी विद्वानों की सम्मति है कि यदि रानडे अपने जीवन काल में हाई कोर्ट की जजी ही करते तो भी उनका नाम चिरस्मरणीय रहता क्योंकि उनके फैसलों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे हर एक मुकदमें में सत्य का अनुसधान करने का प्रयत्न करते थे। चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस ने उनके जजी क कार्य क सबध में उनकी मृत्यु पर कहा था—" उनके साथ जजी का काम थोडे दिन भी करने से मालूम हो जाता था कि वे गभीर और सहानुभूति पूर्ण जज थे जिन की निरीक्षण-शक्ति बडी उच्च श्रेणी की थी और जिनको सदा जो उचित है

वही करने का प्रवल विचार रहता था। उनकी सम्मति उनके सहायक जजों क लिये वड़ी अमूल्य थी और उनके फैसले भविष्य में उनके पांडित्य और विद्वत्ता के स्मारक रहेंगे।"

हिंदू धर्म शास्त्र का ज्ञान, साक्षी की जाँच पड़ताल, भारतवासियों के चरित्र से पूर्ण परिचय, परिश्रम इत्यादि गुणों की, जो रानडे में थे उन सब जजों ने प्रशंसा की है जो उनके साथ काम करते थे। जजी की कुर्सी पर बैठकर उन्होंने किसी वकील या गवाह या मुअक्किल को कठोर शब्द नहीं कहा। वे स्वयं घर से तैयार आते थे और हर एक मुकदमें की वातें उन्हें याद हो जाती थीं। इस लिये, वकील और मुअक्किल सब का उन पर विश्वास था। सब समझते थे कि वे न्याय करेंगे।

---

(६) देश-सेवा।

"Wanted a man who is larger than his calling, who considers it a low estimate of his occupation to value it merely as a means of getting a living. Wanted a man who sees self-development, education and culture, discipline and drill, character and manhood in his occupation."

—Marden

All good work is God's work.

स्वर्गवासी ह्यूम साहव ने जिनको कांग्रेस का जन्मदाता कहते हैं, जो भारतीय सिविल सर्विस के वड़े उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और जिनसे उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध

लोगा से परिचय था, रानडे के सबध में लिखा था कि "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसको पूरे चौबीस घटे अपने देश का ही विचार रहता था तो वह व्यक्ति मिस्टर रानडे था।" मिस्टर ह्यूम उनको "गुरु महादेव" कह कर पुकारते थे। रानडे के जीवन का बहुतसा समय पूना और बम्बई में व्यतीत हुआ था। डाक्टर पोलन कहा करते थे कि रानडे पूना के बिना छत्रधारी राजा हैं। जब तक वे पूना में रहे, कोई भी सस्था ऐसी नहीं बनी कि जिसको या तो उन्होंने स्थापित न किया हो अथवा उसकी उन्नति में योग न दिया हो।

सन् १८६२ ई० में 'इदुप्रकाश' पत्र अँग्रेजी और मराठी म निकलने लगा। इसके अँग्रेजी विभाग के सपादक रानडे नियुक्त हुए। उस समय इस देश में पत्रों की सख्या बहुत कम थी और पत्र सपादन की योग्यता भी लोगों में कम थी। रानडे के लेखों ने सरकार और शिक्षित-समाज को इस पत्र की ओर आकर्षित करा दिया। उनके अनेक बडे महत्त्व पूर्ण लेख छपे जिन्होंने, विशेष कर पानीपत के युद्ध की 'शताब्दी' के लेख ने, इस पत्र को बडा सर्वप्रिय कर दिया।

सन् १८७१ में वे पूना के सबजज हुए थे और १८९३ तक प्राय वहीं रहे। बीच बीच में यदि कहीं बदली भी हुई तो घूम फिर कर फिर वे पूना में पहुँच जाते। पूना के देशभक्त और भिन्न भिन्न सस्थाओं के प्रवर्त्तक और कार्यकर्त्ता लोगा की सदैव इनके यहा भीड लगी रहती थी। देशहित का ऐसा कोई कार्य नहीं था जिसमें उनका अनुराग न हो। उनका मत था कि देश में धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक, राजनैतिक

उन्नति एक साथ होनी चाहिए। वे दूरदर्शी और गंभीर थे। उनका विश्वास था कि धैर्य, शांति और विचार से कार्य अधिक होता है और उसका प्रभाव अमिट होता है। उन्हें विद्रोह, विप्लव और अशांति से घृणा थी। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"संशोधन करनेवालों को कोरी पटिया पर लिखना आरंभ नहीं करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि अर्द्ध-लिखित वाक्य को पूर्ण करें। व जो कुछ उत्पन्न किया चाहते हैं, अपने अभिलषित स्थान पर तभी पहुँच सकते हैं जब वे जो कुछ प्राचीन काल मे सत्य ठहराया गया है उसे सत्य मान ले और बहाव में कभी यहां और कभी वहां, धीमा सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत की ओर बरबस ले जाँय।" पर उनके शब्द-कोष मे शांति का अर्थ आलस्य नहीं था। जहाँ जहाँ वे रहे, वहाँ की अवस्था के सुधार मे तन, मन, धन से लग जाते। पूना में पचीसों संस्थाएँ हैं जिनको उन्होंने जीवन-प्रदान किया था। सार्वजनिक सभा का, जिसको सन् १८७१ ई० में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी ने स्थापित किया था और जो किसी समय में प्रसिद्ध राजनैतिक सभा थी, सब कार्य प्रायः येही किया करते थे। राजनियम संबंधी सुधार पर जितने पत्र यह सभा गवर्मेंट को भेजा करती थी, प्रायः उन सबको येही लिखा करते थे। इन्हीं की सलाह से सन् १८७६ के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकालपीड़ित लोगो की रक्षा के लिये ऐसे उत्तम उपाय किए थे जिनसे यह सबकी प्रशंसापात्र बन गई थी। इन्हींने इस सभा की एक त्रैमासिक

पत्रिका निकाली जिसमें वे स्वयं बड़े गभीर, सामयिक और महत्त्व के लेख लिखते थे। इनकी मृत्यु के अनंतर टाइम्स आफ इंडिया पत्र ने लिखा था कि इनके वे पुराने लेख यदि पुस्तकाकार छपवा न लिए जाँयगे तो एक प्रसिद्ध देशहितैषी के विचारपूर्ण लेख गुम ही रह जाँयगे। हर्ष का विषय है कि श्रीमती रानडे ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया है।

पूना के फर्युसन कालेज के भी जो इस समय भारतवर्ष में विद्यार्थियों की संख्या और अध्यापकों के आत्म-समर्पण में सब-से बड़ा कालेज समझा जाता है, रानडे सस्थापकों में से थे। पूना पुस्तकालय और प्रार्थना समाज के भवन उन्हीं की सहायता और उत्तेजना से बने थे।

पूना में रानडे से पचास वर्ष पहले एक सभा थी जो दक्षिणी भाषा में पुस्तकों के अनुवाद करती थी। यह सभा टूट गई थी और इसका रुपया बंबई के एकौंटेंट जेनरल के दफ्तर में जमा था। रानडे का विचार इसी प्रकार की एक सभा खोलने का था। जब उनको मालूम हुआ कि पुरानी सभा का रुपया गवर्मेंट में जमा है तो उन्होंने सभा का पुनरुद्धार किया और सरकार में जमा किया हुआ रुपया ब्याज-सहित वसूल किया।

पूना में एक कंपनी है जिसके द्वारा रेशमी और सूती कपड़े बनते हैं। एक समय में इसकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई थी, परंतु रानडे ने इसकी रक्षा की। इसी प्रकार वहाँ के पेपर मिल को इन्होंने सुधारा। वक्तृतोत्तेजक सभा, वसंत व्याख्यानमाला इत्यादि के प्रबंध में भी आपने योग दिया था।

एक पंचायत आपने स्थापित कराई थी जो मुकद्दमेवालों में मेल कराती थी। हीराबाग़ में टौनहाल आप ही के उद्योग से बना था। एक अजायब घर भी आपने स्थापित कराया था। इसी प्रकार की अनेक संस्थाएँ आपके पूना में निवास काल में स्थापित हुई थीं। जब वहाँ से इनकी नासिक और धुले की बदली हुई तब वे छुट्टियाँ पूना ही में बिताते थे। दिन के बारह, एक बजे तक और रात को भी १० बजे तक लोग इनके यहाँ जमा रहते थे। हर रोज़ किसी न किसी कमेटी या सभा या अन्य देशहित कार्यों के आरंभ करने के प्रस्ताव होते थे। कभी कभी उनको केवल दो घंटे सोने का अवकाश मिलता था। एक दो बार तो नवीन विचारों की चिंता ही में सवेरा हो गया। इस प्रकार पूना में वे अपनी छुट्टियाँ बिताते थे। जब वे पूना से बंबई हाई कोर्ट की जजी पर गए तो उन्होंने २५०००) अनेक संस्थाओं को दान दिया था।

जब आप नासिक बदल गए तो वहाँ जा कर भी आपने प्रार्थना-समाज स्थापित की। स्त्रियों के व्याख्यान, उपदेश इत्यादि का प्रबंध किया। कन्या पाठशाला की उन्नति की। फिर जब धुले ऐसी जगह में बदली हो गई तो वहाँ जाकर भी वे देशसेवा के अनेक उपाय करने लगे। जब वे दौरे का काम करते थे तब गावों में या क़सबों में भी कन्या पाठशालाएँ अथवा अन्य प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कराते थे।

बंबई विश्वविद्यालय के फ़ेलो आप १८६५ ई० में चुने गए थे। बंबई पहुँच कर आपने युनिवर्सिटी में भी काम करना शुरू कर दिया। उस समय सर मंगलदास नाथू भाई

ने मृत्यु से पहले एक वसीयतनामे द्वारा ३½ लाख रुपया युनिवर्सिटी को देने के लिये लिखा था, परंतु उनके उत्तराधिकारियों मे झगडा हो गया और इस अवस्था में वे युनिवर्सिटी को एक पैसा भी देना नहीं चाहते थे, किंतु रानडे ने प्रेम और युक्ति द्वारा उनको रुपया देने पर राजी कर लिया। इस बात को बंबई के लाट साहब लॉर्ड नार्थकोट ने अपने कनवोकेशन के व्याख्यान में इनकी मृत्यु के उपरांत कहा था।

विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं को स्थान दिलाने का भी इन्होंने अनेक बार प्रयत्न किया। युनिवर्सिटी परीक्षाओं के स्थापन होने के आरंभ के समय मे सन् १८५९ मे देशीभाषाएँ पढाई जाती थीं, परंतु १८७० से उनको परीक्षाओं से यह कह कर निकाल दिया गया कि इनमें संस्कृत और अरबी ऐसा साहित्य नहीं है। रानडे ने एक बेर विश्वविद्याल के अनेक मेंबरों के हस्ताक्षर से, जिनमें कई मुसलमान और पारसी भी थे, एक पत्र युनिवर्सिटी में इस विषय का भिजवाया कि बी. ए. और एम ए. के अनेक विषयों में मराठी और गुजराती को भी स्थान दिया जाय और प्रत्येक विद्यार्थी को अधिकार रहे कि यदि वह चाहे तो इन देशी भाषाओं मे भी परीक्षा दे सके। जब यह विषय सिंडिकेट में उपस्थित किया गया, रानडे ने बड़ी योगता से इसका समर्थन किया, पर जब उपस्थित सभासदों की सम्मति ली गई तब आधे इसके पक्ष में और आधे विरुद्ध हो गए। जो महानुभाव सभापति के आसन पर विराजमान थे उन्होंने उनके विरुद्ध सम्मति दी। इस पर यह

प्रस्ताव पास नहीं हुआ। देशी भाषाओं के भक्तों को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उनमें से कई एक का उत्साह कम हो गया, परंतु रानडे ने उनको समझाया कि इस विषय में कुल सभासदों में आधे का भी इस पक्ष में हो जाना भविष्य के लिये अच्छे लक्षण हैं। जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे उनको अपनी ओर लाने के लिये उन्होंने इस समय मराठी भाषा का एक इतिहास लिखा। बहुत से लोगों का विश्वास था कि देशी भाषाओं में केवल गँवारी बातें हैं, उनमें साहित्य का नाम भी नहीं है। रानडे ने ग्रंथों के नाम, ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण और उनकी विषय-सूची लिख कर इस इतिहास में यह दिख-लाया कि मराठी भाषा में पद्य के बहुमूल्य ग्रंथ मिलते हैं जिनमें विद्वानों को साहित्य का पूर्ण रसस्वाद प्राप्त हो सकता है। हाँ गद्य के ग्रंथों का अवश्य अभाव है, पर यह दोष संस्कृत में भी है। इस प्रकार लोगों का मत परिवर्त्तन करने का पूरा प्रयत्न करके रानडे ने फिर इस विषय को सिंडिकेट में उपस्थित कराया। सिंडिकेट ने इस विषय पर विचार करने के लिये तीन सभासदों अर्थात् मिस्टर रानडे, मिस्टर (सर फ़िरोज़शाह) मेहता और डाक्टर माकीकन की एक सब-कमेटी बना दी। इस सब-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस विषय का समर्थन किया कि अँग्रेज़ी कोर्स के साथ संस्कृत और फ़ार्सी के बदले मराठी या गुज-राती पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। सब-कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि मराठी और गुजराती जीवित भाषाएँ हैं। इन भाषाओं और उनके इतिहास का ज्ञान बालकों के लिये अत्यंत लाभकारी होगा। उन्होंने यह भी बतलाया कि

अँग्रेजी पढ़े लिखे लोग, अँग्रेजी-साहित्य, अँग्रेजी इतिहास, और विज्ञान शास्त्र इत्यादि विषयों पर देशी भाषाओं में जन समूह के उपकारार्थ उस समय तक ग्रथ नहीं लिख सकते जब तक उनको इन भाषाओं का ज्ञान न होगा। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों से इस सब-कमेटी ने प्रस्ताव किया कि एम ए परीक्षा के लिये मराठी और गुजराती रक्खी जाय। इसका पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ा जाय। सब कमेटी की रिपोर्ट का बहुत सा अंश रानडे ने लिखा था। २९ जनवरी १९०१ को सेनेट ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया और गुजराती और मराठी के साथ कानड़ी भाषा को भी एम ए की परीक्षा में स्थान दिया। परंतु इससे पूर्व रानडे इस ससार से बिदा हो चुके थे।

रानडे की देशसेवा अनेक मार्गों म बटी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देश-सेवा का वे सचार करते थे। नवयुवकों के वे उत्तेजक थे। अनेक सस्थाओं के वे प्रवर्त्तक थे। राजनैतिक, औद्योगिक, धार्मिक समाज सुधार और शिक्षा प्रचार सबधी उनके अनेक कार्य देशवासियों की सपत्ति के समान हैं। इसलिये उनका अलग अलग वर्णन करना आवश्यक है।

---

(७) धार्मिक विचार।

" Every sect supposes itself in possession of all truth, and that those who differ are so far in the wrong; like a man travelling in foggy weather, those at some distance before him on the road he sees wrapped up in the fog as well as those behind him, and also the people in the fields on each side; but near him all appears clear, though in truth, he is as much in the fog as any of them."

—Benjamin Franklin.

रानडे प्रार्थना-समाज के सभासद थे जो दक्षिण प्रांत में १८६७ में चलाई गई। प्रार्थना-समाज के सिद्धांत प्रायः वे ही हैं जो ब्रह्मसमाज के हैं। इस समाज के लोग एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं। मूर्त्तिपूजा और अवतार नहीं मानते। किसी ग्रंथ विशेष को ईश्वरकृत नहीं समझते। संसार के सब धर्मग्रंथों को मनुष्य के स्वभाव में धार्मिक रुचि के अस्तित्व की साक्षी मानते हैं। एक ईश्वर को माननेवालों का क्या विश्वास होना चाहिए, इस विषय पर रानडे ने एक लेख " A theist's Confession of faith " लिखा था। उसमें लिखे हुए विचार उनके धार्मिक मंतव्य मानने चाहिएँ। वे संक्षेपतः ये हैं—

१—मानवी प्रकृति में धर्म की लालसा स्वाभाविक है। समस्त युगों में, समस्त देशों में और समस्त जातियों में किसी

न किसी रूप में पूजा अर्चना जारी रही है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य के हृदय में एक प्रकार की जागृति सदा बनी रहती है कि हम निस्सहाय और परतन्त्र हैं और कोई अद्भुत और गुप्त शक्ति हम सबके बाहर और ऊपर अवश्य है।

२—धार्मिक सिद्धांत गणित और अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों के सिद्धांतों की नाई सिद्ध नहीं किए जा सकते। उनका सबंध मनोविज्ञान से है। मनुष्य का अनुभव सीमाबद्ध और लौकिक है। धर्म के सिद्धांत अलौकिक हैं।

३—सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और प्रकृति में परस्पर सबंध इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनपर मनुष्य को विचार करने में अपनी बुद्धि की निर्बलता स्वीकार करनी पडती है।

४—प्राकृतिक और आत्मिक दुःखों की उत्पत्ति, मनुष्यों की सीमाबद्ध स्वतन्त्रता, शरीर से पृथक् होने के उपरांत और उससे पूर्व आत्मा की ठीक ठीक अवस्था, ये प्रश्न ऐसे हैं जिनके उत्तर हृदय से उठते हैं और जिन पर मनन करने से बुद्धि की सबलता प्रतीत होती है, परंतु शका पर शका उठती ही आती है जिन सब का समाधान शीघ्र नहीं होता।

५—मनुष्य की धार्मिक जागृति के दो अंग हैं,—एक बुद्धि से सबंध रखता है, दूसरा हृदय से। पहला दर्शनादि का ज्ञान है, दूसरा कर्म। यद्यपि मत मतांतर अनेक हैं, परंतु धर्म एक ही है। ईश्वर में भक्ति और मनुष्य से प्रेम, यद्यपि ये दो भिन्न भिन्न सिद्धांत हैं, परंतु ये मनुष्य में स्वाभाविक हैं और इनका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर विलक्षण पडता है।

६—ज्यों ज्यों मनुष्य की बुद्धि मे वृद्धि होती है, ईश्वर के एक होने में उसका विश्वास वढ़ता जाता है। एक ईश्वर मे विश्वास का शनैः शनैः विकास होता है।

७—धर्म का उद्देश्य इन वातों की शिक्षा देना है—मनुष्य की श्रद्धा, भक्ति और प्रेम का एकमात्र ईश्वर ही आधार है; हृदय, युक्ति, विवेक-शक्ति और धार्मिक भावनाओं से जो ईश्वरीय नियम मालूम हों उनका स्वतः और ज्ञानपूर्वक पालन; अपनी प्रकृति में ईश्वरीय गुणों के कुछ अंशों को लाने का प्रयत्न करना, मनुष्य और ईश्वर के संबंध का ज्ञान प्राप्त करना और दूसरे जन्म में उच्च श्रेणी के अस्तित्व की योग्यता प्राप्त करना।

८—मनुष्यों में नि.सहाय और परतंत्र होने के भाव से तात्पर्य यह है कि एक मात्र परमेश्वर ही है जिसका वह आश्रित है। यह भाव हमारी प्रकृति की जाँच और इतिहास की साक्षी से सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में वह भाव यह है कि—ईश्वर है, वह चैतन्य रूप है, वह एक महान् शक्ति है, सब कारणों का कारण है, काल और स्थान से वह सीमाबद्ध नहीं है, इस जगत् का शक्तिमान् शासक है और यह जगत उसकी दूरदर्शिता, सर्वोपरि शक्ति, बुद्धिमत्ता, नेकी, प्रेम, न्याय और पवित्रता से शासित है। वह मनुष्य की आत्माओं का प्रभु, पिता, न्यायकर्त्ता और धार्मिक शासनकर्त्ता है।

९—ईश्वर केवल शक्ति ही नहीं है, न वह वीर्य रूप म है न तत्त्व रूप में। ईश्वर अनेक नहीं हैं। भलाई और बुराई करनेवाले दो ईश्वर नहीं हैं। ईश्वर एक है, दो, तीन अथवा

उससे अधिक नहीं। न वह अपने ही में लीन ब्रह्म है कि जिसे संसार की अवस्था का कोई ज्ञान न हो।

१०—ईश्वर और बाह्य जगत् में क्या पारस्परिक संबंध है? इसका ठीक ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की बुद्धि के बाहर है। शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति होना असंभव है। परंतु ईश्वर प्रकृति को अपने नियमानुसार चलाता है। हर एक वस्तु की उत्पत्ति, वृद्धि, उसका रूपांतर, मनुष्य की इंद्रियों को ईश्वर की शक्ति का प्रमाण देता है। प्रकृति का अस्तित्व, जीवन और उसकी गति ईश्वर की ओर से है।

११—मनुष्य की आत्मा चैतन्य है। उसकी स्थिति पृथक् है। उसकी शक्तियाँ अनेक हैं—सोचना, इच्छा करना, सुख दुःख का अनुभव करना, उचित और अनुचित का जानना इत्यादि। आत्मा अमर है, मृत्यु के समय वह मनुष्य शरीर से अलग होकर रहती है। यह ईश्वर के समान आदि है अथवा इसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परंतु जिस प्रकार ईश्वर की शक्ति और बुद्धिमत्ता का परिचय बाह्य जगत् से मिलता है, उसी प्रकार आत्मिक जगत् में उच्च आदर्श, सद्भाव और सत्कर्मों में उसका प्रभाव प्रतीत होता है।

१२—परमेश्वर जड़ और चैतन्य जगत् को किसी विशेष उद्देश्य से नियमानुकूल चलाता है। ये नियम ईश्वर का विभव प्रगट करते हैं और जीव मात्र को उपकार पहुँचाते हैं। यह उसके नियमों का फल है कि अच्छे और बुरे कर्मों का परिणाम शारीरिक सुख और दुःख तथा आत्मिक संतोष और असंतोष होता है। यह सच है कि कभी कभी पापी को सुख

मिलता है और पुण्यात्मा को दुर्भाग्य मे जीवन व्यतीत करना पडता है। परंतु यह एक ऐसा प्रश्न है जिससे ईश्वर के न्याय के विषय में शंका नहीं होती।

१३—हमारे जीवन की वर्तमान अवस्था, परीक्षा और तैयारी का समय है। इस जीवन के संयम हमें भविष्य जीवन-क्षेत्र के योग्य बनाएँगे। यहाँ बुरे रास्ते पर जाने की संभावना है, हमारे मार्ग में प्रलोभनाएँ हैं जो बाहर और अंदर दोनों हैं और जो हमको उन बातों से विचलित करती हैं जिनको हम उत्कृष्ट और उचित समझते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हमारी यहाँ जाँच हो रही है। इन कठिनाइयों, प्रलोभनों और खतरों से बचने के लिये हममें संयम और भविष्य सुख के लिये वर्तमान समय में कष्ट सहने की बान पड़नी चाहिए। इसलिये यह समय न केवल जाँच का ही है, बल्कि संयम का भी है। यह विचार इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि हमारा ऐसा स्वभाव ही बनाया गया है कि अनुभव और किसी प्रकार की आदत को बढ़ाने से हम उन्नति करते हैं जिससे हममें आत्म-शासन और ईश्वर की इच्छा पर भरोसा रखने के गुण उत्पन्न होते हैं। यदि हमारा कोई जीवन परीक्षा की अवस्था और संयम की पाठशाला कहलाने योग्य है तो वह यह वर्तमान ही जीवन है जिसमें हमारे चारों ओर जो जाल फैला हुआ है उसमे हमें आत्म-शासन के अभ्यास की शिक्षा मिल रही है। संसार की अवस्था और उसके दोष ईश्वर पर उचित भरोसा रखने के भाव बढ़ाते हैं और प्रलोभनों के हर समय सामने रहने से हमें अपनी अच्छी आदतों को पक्का करने का अवसर मिलता है।

१४—आत्मा अमर है। इस जीवन के कार्यों के अनुसार उसको दूसरे जीवन में सुख अथवा दु ख मिलेगा। यह किस प्रकार होगा, इस भेद का जानना कठिन है। स्वर्ग और नरक का यथार्थ ज्ञान कठिन विषय है, परतु हम लोगों के इस विश्वास से कि ईश्वर ने इस जगत् को नियमबद्ध रचा है और आत्मा प्रत्येक जीवन में उन्नति करती है, हमको यह प्रतीत नहीं होता कि एक बेर पाप करने से हम सदा नरक में ही पड़े रहेंगे। ईश्वर दयावान्, बुद्धिमान् और न्यायकारी है, इसलिये ऐसा नहीं हो सकता।

१५—मनुष्य स्वतन्त्र है, इसलिये अपने कार्यों के लिये वह जिम्मेदार है और उचित उद्योग और आत्मिक यत्न से वह सब कुछ कर सकता है। परतु उसके साथ ही जिस समय और जिस स्थान में उसने जन्म लिया हो उसका प्रभाव भी उस पर अवश्य पड़ता है। जैसे लोगों मे वह रहता है, जिस प्रकार की शिक्षा उसको छोटी अवस्था मे मिलती है, उसकी शारीरिक अवस्था इत्यादि मे उसकी स्वतन्त्रता में बाधा अवश्य पड़ती है।

१६—पाप की उत्पत्ति क्यों हुई, इसका जानना भी कठिन है। शारीरिक दु ख अज्ञान के कारण होते हैं। यह ससार परीक्षा और सयम का स्थान है और बिना पाप के रहे परीक्षा और सयम हो ही नहीं सकते।

१७—मनुष्य पापी उत्पन्न हुआ है, क्योंकि उसके आदि पुरुषों ने ईश्वरीय नियम का उल्लघन किया था, यह विश्वास निर्मूल है और इसके मानने से ईश्वर के न्याय में भेद पड़ता है।

के कारण भाई समझने की आदत पड़ जाती है।

३०—पुरोहितों की धर्म की रक्षा के लिये आवश्यकता है, परंतु पुरोहितों का समूह परंपरागत नही होना चाहिए क्योंकि इससे उनमें स्वार्थ आ जाता है और उनसे समाज को हानि पहुँचने लगती है। स्मरण रखना चाहिए कि पुरोहितों की संस्था केवल सामाजिक है, न कि ईश्वरीय।

३१—सबको मिलकर उपासना करने के लिये मंदिर और उपासना भवन की आवश्यकता है जो विशाल हो और सजाया हुआ रहे। बहुधा पूजा पाठ के स्थान की सफाई, सजावट और संगीत का मनुष्य के हृदय पर भक्ति उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, पर इन सब मे इतनी बनावट न आने पाए कि प्रार्थना और ईश्वर गुणानुवाद के भावों को हमारे हृदय में उठने मे बाधा पडे।

३२—त्योहारों और वार्षिकोत्सव की हमारी वर्तमान् सामाजिक अवस्था में आवश्यकता है क्योंकि इनसे मनुष्यों की भक्ति मे उत्तेजना होती है, इनके द्वारा थोडी देर के लिये मनुष्य अपने सांसारिक कामों से हटकर ईश्वर की ओर लगता है। जीवन की चिंताओं से मनुष्य दबे रहते है। ऐसे अवसर उनकी आत्मा को स्वस्थ करने के लिये एक प्रकार की छुट्टी का काम करते हैं। आत्मा धर्म की छाया में आकर शांति प्राप्त करती है।

३३—जीवन की गंभीर घटनाओं के अवसर पर जैसे जन्म, विवाह और मृत्यु धार्मिक संस्कार होने चाहिएँ, ईश्वर की उपासना होनी चाहिए जिसमें लोगों पर अपनी जिम्मेदारी

का भाव उत्पन्न हो। नि सहाय और गरीब लोगों को दान देना चाहिए। पितरों के श्राद्ध भी आत्मोन्नति के लिये इसी प्रकार करने चाहिएँ।

३४—धार्मिक शिक्षा में निःस्वार्थता, आत्म-त्याग इत्यादि गुण सिखलाने चाहिएँ। दया, दान, परोपकार, आत्म मर्दन इत्यादि गुणों का आधिक्य भी बुरा नहीं है क्योंकि मनुष्य में स्वार्थ के भाव भी मौजूद हैं। धार्मिक जोश ससार में इतना कम है कि वह यदि किसी में पाया जाय तो उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए परन्तु उसको बुरे मार्ग पर जिससे दूसरों की हानि हो न जाने देना चाहिए।

३५—तीर्थयात्रा युक्तियुक्त है। नवीन और ऐतिहासिक स्थानों में जाकर आत्मा में धर्म और भक्ति का उद्गार होता है जो नित्य की देखी हुई जगह में नहीं होता। इसके साथ ही किसी स्थान विशेष की पूजा करने लगना आत्मा को नीचे की तरफ ले जाना है।

३६—महात्मा और महानुभाव से मिलकर आत्मा पर बड़ा सुंदर प्रभाव पड़ता है और धर्म की ओर रुचि बढ़ती है, परन्तु किसी को गुरु बनाकर परमेश्वर और अपने बीच में उसको मध्यस्थ समझना उस सचे सिद्धांत के विरुद्ध है कि मनुष्य अपनी मुक्ति अपने ही कर्मों से प्राप्त कर सकता है।

३७—मुक्ति अपने कर्मों से प्राप्त होती है, इसलिये किसी व्यक्ति विशेष को मुक्तिदाता बतलाना या समझना भूल है। कुछ महात्मा धार्मिक गुणों के कारण हमारे शिक्षक, पथ प्रदर्शक और उपदेष्टा हो सकते हैं परन्तु उनकी भी उपयोगिता की

सीमा है और अंत में पापों से युद्ध तो हमें ही करना पड़ेगा, प्रयत्न तो हमारा ही होगा, हमारे ही कर्म हमारे काम आएँगे. दूसरों के कर्म हम मोल नहीं ले सकते।

३८—हर एक मनुष्य को अपनी आत्मा की आज्ञा माननी चाहिए। राजनैतिक अथवा सामाजिक विचारों से भी इसके विरुद्ध नहीं करना चाहिए। परंतु अपनी आत्मा के अनुसार काम करने में धर्म पर आघात नहीं पहुँचना चाहिए और न किसी दूसरे पुरुष को हानि, क्योंकि उसको भी अपनी आत्मा पर चलने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समूह निर्भ्रांत होने का दावा नहीं कर सकता। यदि करे भी तो उसका विरोध करना चाहिए, नहीं तो मनुष्यों की बुद्धि संकीर्ण होने लगेगी और वे ग़ुलामी की अवस्था को प्राप्त होने लगेंगे जो कि इसलिये और भी हानिकारक है कि यह परिणाम अनजान में होगा।

३९—धर्म की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं है। भक्ति ज्ञान का कर्म-मार्ग है।

यह अनुवाद बहुत संक्षेप में किया गया है। इसमें रानडे की भाषा का ओज और उनकी युक्तियों की प्रबलता का आनंद नहीं आ सकता। परंतु इससे उनके धार्मिक विचारों के मूल सिद्धांत मालूम हो जाँयगे। रानडे में गुरु अथवा आचार्य बनने की लालसा नहीं थी, इसलिये अपने सिद्धांतों को बतलाते हुए उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि ये मेरे सिद्धांत हैं। प्रत्येक विषय पर यही कहा है कि एक ईश्वर को माननेवालों का यह सिद्धांत है।

रानडे के धार्मिक उपदेश पूना और बंबई की प्रार्थना-समाज में विशेष कर मराठी भाषा में हुआ करते थे। उनके अँग्रेज़ी व्याख्यान कभी शीघ्रलिपिप्रणाली द्वारा अथवा अन्य प्रकार से लिखकर पत्रों में छप जाते थे, परंतु मराठी भाषा के व्याख्यानों का आनंद केवल श्रोताओं को ही मिलता था। यही कारण है कि धार्मिक विषयों पर केवल अँग्रेज़ी में उनके निम्न-लिखित व्याख्यान और लेख मिलते हैं—

१ Philosophy of Thiesm

२ Hindu Protestantism

३ राजा राममोहन राय.

४ A Theist's confession of faith.

धार्मिक सुधार संबंधी नवीन संस्थाओं में ब्रह्मसमाज सब-में प्राचीन समझी जाती है। रानडे का यह मत था कि सुधारक लोगों का दल उन्नीसवीं शताब्दी में ही पहले पहल उत्पन्न नहीं हुआ। धर्म में जो बुराइयाँ पीछे से आती रहीं उनका विरोध प्राचीन काल से होता चला आया है। उप-निषद् कर्त्ताओं ने अनेक स्थानों पर यज्ञादि की निष्प्रयोजनता दिखलाई है। शाक्यमुनि बुद्ध ने अपने समकालीन धर्म की प्रथा का संशोधन कर संसार के बहुत बड़े भाग पर अपना प्रभाव डाला। मुसलमानों के समय में इस देश में अनेक प्रभावशाली साधु संत हुए जिन्होंने धर्म के बाहरी दिखलावे की खुल्लम खुल्ला निंदा की और संसार को उपदेश दिया कि बाहरी आडंबर छोड़कर अपने हृदय को पवित्र करो। रानडे ने अपने अनेक व्याख्यानों में दिखलाया है कि

संसार में किसी देश के सुधारकों को इतनी प्राचीनता का गौरव नहीं हो सकता जितना इस देश के लोगों को है। नारद, प्रह्लाद, वासुदेव, बुद्धदेव इत्यादि ऋषियों ने जिस प्रकार अपने समय में नवीन जीवन का संचार किया था उसी प्रकार ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम इत्यादि ने मुसलमानों के राज्य-काल में किया। उन्हीं उच्च आदर्शों से उत्तेजित होकर अँग्रेजी राज्य में राममोहन राय, दयानंद सरस्वती इत्यादि ने लोगों को धर्मपथ दिखलाया। प्राचीन काल के ऋषियों के विचार संस्कृत ग्रंथों में मिलते हैं परंतु सोलहवीं शताब्दी और उसके पीछे के साधु संतों ने जो कार्य किया है वह जनसमूह की भाषा द्वारा। नाभाजी, उद्धव, प्रियादास और महीपति ने जिन संतों का विवरण लिखा है उनमें स्त्री और पुरुष दोनों थे।

जिस प्रकार महाराष्ट्रीय लोगों को अपने संतों का अभिमान है उसी प्रकार हिंदी भाषा भाषी लोगों का सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, गुरु नानक ऐसे महात्माओं से सिर ऊँचा होता है।

इन महात्माओं की निम्न लिखित विशेषताएँ रानडे ने बतलाई हैं।

(१) इनके वचन भाषा में हुआ करते थे। इनमें से कुछ संस्कृत द्वारा प्रचार करने के विरोधी थे, यद्यपि इन्होंने स्वयं संस्कृत का अध्ययन किया था। उस समय के पंडित इनका विरोध करते थे। यहां तक कहा जाता है कि पंडितों ने एकनाथ और तुकाराम के ग्रंथों को डुबवा दिया था। इन संतों द्वारा भाषा-साहित्य में अद्भुत उन्नति हुई। यद्यपि संस्कृत-पंडितों में भी भाषा के प्रेमी हैं, परंतु उनमें अधिकांश

अब तक भाषा साहित्य की उन्नति की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते। पंडितों और संतों में अवश्य झगड़ा रहा होगा, नहीं तो कबीर साहब इस प्रकार क्यों लिखते ?

संस्कृत हि पंडित कहै, बहुत करै अभिमान ।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अजान ॥
संस्कृत संसार में, पंडित करै बखान ।
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निरबान ॥
संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर ।
भाषा सतगुरु सहित है, सत मत गहिर गंभीर ॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय ॥
पढ़ि पढ़ि तो पत्थर भया, लिखि लिखि भया जो ईंट ।
कबीरा अन्तर प्रेम की, लगी न एकौ छींट ॥
पंडित और मसालची, दोनों सूझत नाहिं ।
औरन को करैं चाँदना, आप अँधेरे माहिं ॥

परन्तु इसपर गुसाईं तुलसीदास जी ने कहा है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच ।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच[1] ॥

(२) इन संतों ने धर्म के आडम्बरों को त्यागने की शिक्षा दी और उनके बदले धार्मिक जीवन बनाने का उपदेश किया। तीर्थों में घूमना, बिना भोजन किए रहना, रातों जागना इत्यादि धार्मिक जीवन में बहुधा सहाय्य नहीं होते। इसके विपरीत

१ दुशाला।

इनके द्वारा चित्त विक्षिप्त रहता है, हृदय की ओर ध्यान जाने के बदले सांसारिक वस्तुओं ही में पड़ा रहता है। धर्मदासजी का, जो कबीर के शिष्य थे, वचन है—

हरि ना मिलैं अन्न के छाडे। हरि ना मिलैं डगर ही माँडे॥
हरि ना मिलैं घर वार तियागे। हरि ना मिलैं निसु वासर जागे॥
दया धरम जहँ वसे सरीरा। तहाँ खोजि लै कहै कबीरा॥

गुरु नानक जी कहते हैं—

वरतु नेमु तीरथु भ्रमें, बहुतेरा बोलणी कूड।
अंतरि तीरथु नानका, सोधन नाहीं मूड॥

दादूदयाल जी ने इन सब बातों का निचोड़ कह दिया है—

कोटि अचारी एक विचारी, तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग भन्या, विचारी विरला कोइ॥

स्मरण रहे तीर्थ, व्रतादि आत्मोन्नति के लिये एक प्रकार के साधन मात्र बनाए गए हैं। इनके आडंबर को धर्म मान लेना ही संतगणों ने भूल बतलाया है।

(३) संतों ने जाति पाँति को धर्म का अंग नहीं माना है। रैदासजी मोची थे, सदनाजी क़साई थे, रौदिवदास जाट थे, बुल्ला साहब कुनबी थे, धरनीदास कायस्थ थे। यारी साहब और दोनों दरिया साहब मुसलमान थे। कबीर साहब जुलाहे थे। महाराष्ट्र संतों में नाई, जुलाहे, महार जाति ने भी संत उत्पन्न किए थे।

यह आवश्यक नहीं है कि परमेश्वर का वही प्यारा हो

---

२ बराबरी।

जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ हो। भक्तमाल में तो अनेक ऐसी कथाएँ आती हैं कि एक ओर ब्राह्मण वेद और पुराणों द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, दूसरी ओर छोटी जाति मे उत्पन्न एक सच्चे हृदय का सीधा सादा पुरुष भक्ति से गद्गद होकर प्रेमपूर्वक भगवान् का चिंतन करता है और कृपानिधि दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

"जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।"

प्रसिद्ध है कि चित्तौर की रानी जब काशी आई उन्होंने रैदास भक्त को जो चमार थे और विद्वान् पडितों को अपने यहाँ बुलवाया। पडितों ने सब मत्र पढे परतु रैदास जी ने जब प्रेम और भक्ति भाव मे आकर भजन गाना आरभ किया, भगवान् की मूर्ति जो सिंहासन पर विराजमान थी, सिंहासन छोड़कर रैदास की गोद में जा बैठी।

इस प्रकार की कथाएँ सुधारक लोगों की बनाई हुई नहीं हैं। इनसे प्रमाण मिलता है कि हमारे देश में किस प्रकार पहले समय में भी जाति पाँति का विरोध होता था।

हम वासी वा देस के, जहँ जाति बरन कुल नाहिं।
सबद मिलावा होत है, देह मिलावा नाहिं॥

सतों की श्रेणी में स्त्रियों का भी उच्च पद था। मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई के वचन प्रेम और भक्ति से भरे हैं। वे इस बात का प्रमाण देते हैं कि ईश्वर की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनो का दर्जा एक है।

जिन भक्तों का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, वे भी प्रेम

पूर्वक उन संतों से व्यवहार करते थे जिनका जन्म छोटी जाति में हुआ था।

(४) भक्तजन दया का प्रचार और अहिंसा का उपदेश सर्वदा किया करते थे। अपने इस उद्देश्य में वे पूर्णतया कृतकार्य हुए। मांसादिभक्षण का, जो कभी कभी धर्म के नाम से होता था उन्होंने ज़ोर से खंडन किया। उनके उद्योग से वैष्णवता देश में सर्वप्रिय हो गई। कबीर जी मुसलमान के घर में पाले गए थे, पर उन्होंने बड़े मनोहर और चुभते हुए शब्दों में मांसादि का प्रयोग मना किया है। सदना जी तो कसाई ही थे, फिर भी मांस नहीं खाते थे।

रानडे का हिंदू प्रोटेस्टेंटिज़्म विषय पर लेख मनन करने योग्य है।

---

(८) समाज सुधार का उद्योग।

Isolation, submission to outward force or power more than to the voice of the inward conscience, perception of factitious difference between men and men due to heredity and birth, a passive aquiescence to secular well-being almost bordering upon fatalism. These have been the root ideas of our social system.—Ranade.

भारत की अधोगति के अनेक कारणों में से एक कारण इस देश की वर्तमान सामाजिक, अवस्था है। इससे हमारी जातीय शक्ति का बिलकुल ह्रास हो गया है, हमारे लौकिक

और पारमार्थिक आदर्शों का प्रतिविंब केवल हमारे शास्त्रों और इतिहासों में मिलता है, हमारे वर्त्तमान जीवन में कम। ब्रह्मचर्य्य के स्थान पर बाल विवाह फैल गया, सीता और सावित्री के नाम का स्मरण करनेवाली हमारी देवियां शिक्षा से विहीन रक्खी जाने लगीं, ब्राह्मण का उच्च पद जो आध्यात्मिक और अलौकिक शक्तियों का बोधक था अब केवल नाम मात्र के लिये रह गया है, जहां आचरण की पवित्रता प्रथम श्रेणी का गुण समझा जाता था वहाँ मादक वस्तुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है और यज्ञोपवीत विवाहादि वैदिक संस्कारों पर भी रंडियों के नाच की प्रथा चल निकली है। इस सामाजिक दुर्दशा के कारण विदेशीय धर्म प्रचारक और अन्य लोगों को अन्य देशों में हमारी अवस्था नोन मिर्च लगा कर सुनाने का अवसर मिलता है जिसका प्रभाव हमारी राजनैतिक उन्नति पर पड़ता है। मिस्टर एच् ए एल फिशर ने जो विलायत के किसी विश्वविद्यालय के वाईस चानसेलर हैं अपने एक व्याख्यान में कहा था कि भारत का स्थान अंग्रेजी साम्राज्य के उपनिवेशों के समान तब हो सकता है जब यहाँ के लोग नीच जातियों के साथ अच्छा बर्ताव करने लगें, जब बाल विवाह बिल्कुल उठा दिया जाय और जाति के बंधन कुछ ढीले कर दिए जाँय। मि० फिशर का यह विचार सत्य है या झूठ इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं परन्तु इस उदाहरण से विलायती राजनीतिज्ञों की सम्मति इस देश को राजनैतिक अधिकार देने के संबंध में मालूम हो जाती है।

सामाजिक दुर्दशा समस्त जातीय दुर्दशा का कारण होती

है। रानडे ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय भारतीय सामाजिक अवस्था के सुधार मे लगाया। वे अपनी तीस वर्ष की अवस्था में जब 'इंदु प्रकाश' के संपादक नियुक्त हुए थे तभी से समाज-संशोधन के पक्ष मे आंदोलन करते थे। उन दिनों पं० विष्णु शास्त्री दक्षिण मे एक अच्छे विद्वान थे। वे विधवाविवाह को शास्त्रानुकूल समझते थे। सं० १८६१ मे उन्होंने विधवाविवाह सभा स्थापित की, जिसके सभापति जमखिंडी के सर्दार अप्पासाहेब नियुक्त किए गए। पं० विष्णु शास्त्री इस सभा के मंत्री थे, रानडे को इस विषय पर आंदोलन करने का भार सौंपा गया। १८६९ में एक विधवा विवाह भी किया गया, इस पर अनेक स्थानों के सर्दारों ने श्रीशंकराचार्य जी को इस विषय पर वादविवाद करने पर तैयार किया। पाँच शास्त्री सुधारक लोगों की ओर से और पाँच शंकराचार्य की ओर से चुने गए। शंकराचार्य जी स्वयं सभापति हुए। रानडे ने उस समय विष्णु शास्त्री की बड़ी सहायता की। पंचों में से सात ने विधवाविवाह का विरोध किया और तीन ने समर्थन किया। शास्त्री लोगों में झगड़ा होने के कारण कचहरी में मानहानि का दावा होने की नौबत आई। उस समय शास्त्रों के प्रमाणों को अंग्रेजी में संग्रह करने की आवश्यकता पड़ी। १८७० में रानडे ने Vedic authorities for widow marriage नामक पुस्तक लिखी। इस सभा द्वारा फिर अनेक स्थानों पर विधवाविवाह होने लगे। रानडे और अन्य सुधारक लोग बिरादरी से निकाले गए। उनमें से कुछ डर गए और प्रायश्चित्त करके हट गए, परंतु रानडे ने विष्णु

शास्त्री का बराबर साथ दिया। अनेक बार उनको कष्ट पहुँचाया गया, परन्तु उन्होंने अंत तक प्रायश्चित्त नहीं किया।

स० १८८४ में रानडे ने पंडित शंकर पाण्डुरंग और सर रामकृष्ण भाडारकर के साथ मिलकर कन्याओं के लिये पूना हाई स्कूल खोला। इस पर भी बड़ा आंदोलन हुआ और इन नवयुकों को चारों ओर से गालियाँ मिलने लगीं, यहाँ तक कि हिंदू कन्याएँ बहुत कम आतीं और यहूदी और ईसाई लड़कियों की संख्या बढ़ने लगी। परन्तु रानडे ने इस-की परवाह न की। धीरे धीरे हिंदू कन्याओं की ही अधिकता हो गई, और इतनी लड़कियाँ आने लगीं कि स्थानाभाव से बहुत सी निराश हो कर लौटने लगीं।

समाज सुधार के इस प्रकार के उद्योगों का प्रभाव केवल नगर विशेष अथवा प्रांत विशेष पर पड सकता था। पर आ-वश्यकता थी कि समस्त देश इसको स्वीकार करे। १८८५ में कांगरेस का जन्म हुआ। इसके द्वारा राजनैतिक विषयों पर आंदोलन होने लगा। कांगरेस किसी स्थान विशेष की संस्था नहीं है। इसके अधिवेशन समस्त देश के प्रत्येक भाग में होते हैं। एक वर्ष एक प्रांत की राजधानी अथवा किसी मुख्य नगर में, दूसरे वर्ष दूसरे प्रांत में। इस प्रकार कांगरेस के द्वारा समस्त देश में एक प्रकार की जागृति उत्पन्न होती है। रानडे का विचार हुआ कि राजनैतिक कार्य्य के साथ साथ समाज संशोधन संबंधी जागृति भी होनी चाहिए। यों तो कांगरेस द्वारा भी एक प्रकार का सामाजिक सुधार होता है। एक प्रांत के हिंदुओं का दूसरे प्रांत के हिंदुओं से

मिलना, हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि अनेक जातियों का एक साथ बैठना एक प्रकार से सामाजिक संकीर्णता पर कुठार मारना है। पर कांगरेस मे सामाजिक विषयो पर विचार नहीं हो सकता। उस में सरकारी कर्मचारी शरीक भी नहीं हो सकते। इसलिये आवश्यक हुआ कि यदि सामाजिक विषयों पर आंदोलन किया जाय तो वह कांगरेस से पृथक हो। १८८५ मे जब कांगरेस बंबई में हुई रानडे और दीवान बहादुर रघुनाथ राव ने समाज संशोधन की आवश्यकता पर व्याख्यान दिए थे। दूसरे वर्ष कांगरेस कलकत्ते में हुई, वहाँ इस विषय पर विचार नहीं हुआ, परंतु समाचार पत्रों में वाद-विवाद चल रहा था कि कांगरेस में सामाजिक विचार होने चाहिएँ या नहीं।

सं० १८८७ में जब कांगरेस का तीसरा अधिवेशन मद्रास मे हुआ, तो यह निश्चय हुआ कि भारतीय सोशल कानफरेंस (सामाजिक समिति) स्थापित की जाय। 'इस कानफरेंस के जन्म-स्थान का गौरव मद्रास को प्राप्त हुआ। इसके प्रथम सभापति राजा तांजोर माधव राव के. सी. एस. आई, जो द्रावंकोर, इंदौर और बडोदा में दीवान रह चुके थे, किए गए। कानफरेंस के मंत्री दीवान बहादुर रघुनाथ राव चुने गए।

रानडे उपमंत्री नियुक्त हुए। कानफरेंस का अधिवेशन कांगरेस मंडप ही में किया गया और उस समय से अब तक (पूना के अतिरिक्त) प्रत्येक प्रांत में वहीं होता आया है। यह कानफरेंस हर वर्ष जिस स्थान में कांगरेस होती है वहाँ

की जाती है। अब तक इसके कितने अधिवेशन हुए और उनमें कौन कौन सभापति हुआ यह नीचे लिखा जाता है।

अधि-वेशन	वर्ष	स्थान	सभापति
१	१८८५	मद्रास	राजा सर ताजोर माधव राव के० सी० एस० आई० ।
२	१८८८	प्रयाग	राय बहादुर सभापति मुदलियर।
३	१८८९	बंबई	माननीय जस्टिस काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग।
४	१८९०	कलकत्ता	डाक्टर महेंद्र लाल सर्कार एम० डी०, सी० आई० ई०।
५	१८९१	नागपुर	श्रीयुत गणेश श्रीकृष्ण खापरडे।
६	१८९२	प्रयाग	माननीय बा० रामकाली चौधरी।
७	१८९३	लाहोर	दीवान नरेंद्र नाथ।
८	१८९४	मद्रास	सर सुब्रह्मण्य अइयर के० सी० आई० ई०।
९	१८९५	पूना	सर रामकृष्ण भांडारकर एम० ए०, पी० एच् डी०, के० सी० आई० ई०।
१०	१८९६	कलकत्ता	राय बहादुर नरेंद्र नाथ सेन।
११	१८९७	अमरावती	राय बहादुर कोलहटकर।
१२	१८९८	मद्रास	राय बहादुर वीर सलिंगम पतलू।
१३	१८९९	लखनऊ	राय बहादुर लाला बैजनाथ।
१४	१९००	लाहोर	दीवान संतराम।
१५	१९०१	कलकत्ता	राजा विनय कृष्ण देव बहादुर।

१६	१९०२	अहमदाबाद	डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर।
१७	१९०३	मद्रास	माननीय व्यंकट राव।
१८	१९०४	बंबई	माननीय गोकुल दास पारेख।
१९	१९०५	काशी	पं० ज्वाला प्रसाद शंगधर एम० ए०, सी० एस०।
२०	१९०६	कलकता	सर चंद्र माधव घोष, जज हाई कोर्ट
२१	१९०७	सूरत	राव बहादुर लाल शंकर ऊमिया शंकर।
२२	१९०८	मद्रास	मानवीय जस्टिस सर शंकर नायर
२३	१९०९	लाहोर	महाराजा साहब नाभा श्री रिपुदमन सिंह बहादुर।
२४	१९१०	प्रयाग	माननीय सर राजा रामपाल सिंह के० सी० आई० ई०।
२५	१९११	कलकता	जस्टिस आशुतोष चौधरी।
२६	१९१२	बाँकीपुर	साहित्याचार्य पं० रामावतार पांडेय एम० ए०।
२७	१९१३	करॉंची	राय बहादुर दीवान कौडामल चंदामल।
२८	१९१४	मद्रास	माननीय श्रीनिवास आयंगर।
२९	१९१५	बंबई	अध्यापक धोंडो केशव कर्वे।

इस कानफरेंस के प्रथम तेरह अधिवेशनों में रानडे बरावर उपस्थित हो कर व्याख्यान देते रहे। चौदहवाँ अधिवेशन जब लाहोर में हुआ वे बीमार पड़े और पीछे मृत्यु को प्राप्त

हुए। इस अधिवेशन के लिये बीमारी की अवस्था से उन्होंने अपना व्याख्यान तय्यार करके गोखले के द्वारा भेजवा दिया था। उपस्थित होने की असमर्थता के कारण उनकी आँख में कई बार आंसू आगए।

कानफ्रेंस के आरंभ का कार्य्य कठिन था। चारों ओर के विरोध और जाति से निकाले जाने के डर के कारण शिक्षित सज्जन लोग भी इसके साथ सहानुभूति प्रकट करने मे हिचकते थे। तिस पर भी रानडे की दृढ़ता, सहनशीलता और देशहितैषिता के कारण अनेक विद्वान् और प्रतिष्ठित लोग उनका साथ देते थे। कानफरेंस के सभापतियों की नामावली से प्रकट हो जाता है कि भारतीय अनेक सरहतम्र विद्वान्, अग्रगण्य राजनैतिक नेता और अन्य प्रतिष्ठाप्राप्त सज्जन समाज संशोधन की आवश्यकता को स्वीकार करते थे। कानफरेंस के सभापति प्रायः उसी प्रांत के सज्जन चुने जाते हैं जहां उसका अधिवेशन होता है। कांगरेस में ऐसा नहीं होता।

कानफरेंस के इतिहास में एक घटना स्मरणीय है। १८९५ में जब कांगरेस पूना में हुई थी तब सोशल कानफरेंस का नवाँ अधिवेशन वहीं हुआ था। कानफरेंस के पांच छ महीने पहले से इस बात का विरोध उठाया गया कि उसकी बैठक कांगरेस के मंडप में न हो। इस विरोध ने भीषण स्वरूप धारण किया। बंबई प्रांत के अनेक नगरों में विशेष कर पूना, सोलापुर, अहमदनगर, नासिक, बंबई, सातारा,

नागपुर, धारवाड में इस विषय पर आंदोलन आरंभ हुआ। मामला यहाँ तक बढ़ा कि कांगरेस की बैठक होने में भी खटका पैदा हो गया। हर स्थान में दो दल हो गए। उस वर्ष कांगरेस के सभापति बाबू सुरेंद्र नाथ बैनरजी थे। दोनों दल वाले उन की सहानुभूति के प्रार्थी हुए। बैनरजी के सुधार के पक्षपाती होते हुए भी रानडे ने कानफरेंस के अधिवेशन का स्थान बदल कर सब झगडा तै कर दिया। इस विरोध के नेताओं में बाल गंगाधर तिलक भी थे, जो कानफरेंस के आदि काल में उसमें बराबर शरीक होते थे। विरोधियों ने तीन खबरें फैलाईं। एक यह कि कानफरेंस के मंत्री दीवान बहादुर रघुनाथ राव कानफरेंस को तमाशा समझते हैं और इसलिये उन्होंने मत्री पद को त्याग दिया। यह समाचार दीवान रघुनाथ राव के नगर के पत्र मे छपवाया गया, जिसमे सब लोग इस पर विश्वास कर ले। दूसरी खबर यह फैलाई गई कि कांगरेस की प्रांतिक सभाओं ने भी कानफरेंस के कांगरेस मडप में करने के विरुद्ध लिखा है। तीसरे यह कि बाबू सुरेंद्र नाथ बैनरजी ने भी इसका विरोध किया है।

रानडे ने कानफरेंस का स्थान बदलने के बाद एक व्याख्यान दिया जिस का विषय था "पूना मे जोश का कारण"। इस व्याख्यान को सुनने के लिये हजारों लोग आए। सुधारक और विरोधी दोनों यह समझ कर उपस्थित हुए कि रानडे विरोध की सब कथा सुनाएँगे, विरोधियों की खबर लेंगे और अपना गीत गाएँगे। रानडे ने इनमें से एक बात भी न की। रानडे ने पहले दीवान रघुनाथ राव का पत्र पढ कर सुनाया.

जिसमें उन्होंने अपने सबध की खबर के बारे में लिखा था। उस पत्र का अनुवाद यह है।

"बात यह है कि एक सप्ताह के लग भग हुआ, मिस्टर जोशी मुझसे कुभकोणम में मिलने आए। उन्होंने बहुत खुशी से कहा कि कागरेसवालों ने ठीक किया जो सोशल कानफरेंस को अपना मडप नहीं दिया। मुझे इस पर बडा आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं उनको सुधारक समझता था। मैंने कहा मैं बड़ा प्रसन्न हू कि मडप नहीं दिया गया क्योंकि कागरेसवाले विलायतवालों से जो कहा करते थे कि हम समाज-सशोधन सबधी कार्य्यों में सहायता किया करते हैं उस की अब कलई खुल जायगी। अब अगरेज लोग समझ जॉयगे कि कागरेस सोशल कानफरेंस के साथ काम नहीं करना चाहती। मैंने अवश्य यह कहा कि कानफरेंस को कागरेस का मडप न मिलने पर मैं प्रसन्न हू। इस वर्ष कानफरेंस में जाने के सबध में मैंने उनसे कहा था कि मैं अब बुड्ढा हो गया, वहा जाने की मुझमें अब शक्ति नहीं है, अब मेरे लिये उचित यही है कि मैं शातिपूर्वक अपना समय बिताऊ और झगड़ों में न पड़ूँ। मुझे खेद है कि मेरा स्वास्थ्य मुझे जाने से रोकता है।"

इसके अनतर प्रातिक कागरेस कमेटियों के पत्र पढ़े गए जिन्होंने कागरेस मडप दिए जाने के सबध मे अपनी सम्मति दी थी। तब बाबू सुरेंद्र नाथ बैनरजी के पत्र का एक अश पढ़कर सुनाया गया जिसका अनुवाद यह है 'हमारे (कागरेस के) मतव्यों से सामाजिक विषयों को दूर रखने

का कारण यह है कि हम लोगों में मत-भेद न हो जाय। हमारे लिये यह आवश्यक बात है कि हम अपने अंदर दो दल न होने दें। दूसरी ओर की प्रार्थना (कांगरेस मंडप में कानफरेंस न हो) बिलकुल युक्तिविरुद्ध है, परंतु हम लोगों को कभी कभी बड़ी बड़ी बुराइयों को रोकने के लिये युक्ति विरुद्ध बातें भी मान लेनी पड़ती हैं। "

इसके अनंतर रानडे ने गंभीरतापूर्वक कुल झगड़े के कारण पर विचार किया। कुछ लोग कहते थे कि यह सब झगड़ा व्यक्तिगत है। इस संबंध में रानडे ने कहा " इस झगड़े की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाना बड़ा सहल है। व्यक्तिगत झगड़े अवश्य होते हैं। दो दलों में मत-भेद और झगड़े सृष्टि के अंत तक रहेंगे, जिस प्रकार वे सृष्टि के आदि से चले आ रहे हैं .... ये झगड़े केवल पूना ही में नहीं हैं। मुझे देश के प्रायः सब बड़े नगरों का अनुभव है, क्योंकि मैं वहाँ दो तीन बार गया हूँ और वहाँ के झगड़ों के समझने में मैंने कुछ समय दिया है। हम लोगों का यह स्वभाव है कि जहाँ दस बारह आदमी एक साथ काम करते हैं वहाँ आधे एक दूसरे को पागल या दुष्ट कहने लगते हैं। हम में एक प्रकार से यह बान पड़ गई है कि हम एक दूसरे के विरुद्ध ही रहते हैं। लोग समझने लगते हैं कि विरोधियों में कोई अच्छा आदमी ही नहीं है "। आगे चलकर रानडे ने प्रत्येक प्रांत की विशेषता पर विचार किया और बतलाया कि बंगाल में ब्रह्म समाजियों ने अपने को हिंदुओं से अलग कर लिया है। समाज संशोधन की चर्चा केवल ब्रह्म समा-

जियो में है और वे अलग हैं। पजाब १७ वीं और १९ वीं शताब्दी में सिक्खों के अभ्युदय के कारण पहले ही से तय्यार है। सयुक्त प्रात में कायस्थ, खत्री, भार्गव आदि जातियों मे समाज सशोधन की चर्चा है। रानडे ने अपने इस व्याख्यान मे समाज सशोधन के अनेक उपाय बतलाए हैं। समस्त हिंदू दल से अलग होकर काम करना एक उपाय है। बिरादरियों के द्वारा दूसरा उपाय है। आचार्यों से व्यवस्था लेकर सुधार करना तीसरा उपाय है। लोगों को, बतलाना कि सुधार युक्तियुक्त है, उनकी मर्यादा और बुद्धि पर अपील करके उनसे विशेष विशेष सुधार के सबध में प्रतिज्ञा कराना यह चौथा उपाय है। कानून की सहायता से सुधार का प्रचार करना यह पाँचवाँ उपाय है। कहीं एक उपाय काम आता है कहीं दूसरा। इसके अनतर रानडे ने बतलाया " इस प्रात (बबई) के सुधार की सस्थाओं में विशेषता यह है कि हम किसी एक उपाय का अवलबन नहीं करते। हम चाहते हैं कि थोड़ा बहुत सब पर चलें, प्राचीन काल से नाता भी न तोड़ें और बिरादरी से अलग भी न हों। बगाल की नाईं धर्म के आश्रय पर हम अलग होकर नहीं रहना चाहते। हमारी भिन्न भिन्न ' समाजें ' हैं। पर हमारी प्रकृति के यह विरुद्ध है कि हम सब दूसरे दल में जा मिलें। हम पुरानी सस्थाओं से अपना सबध नहीं छोड़ना चाहते। कुछ लोग इसको कमजोरी समझते हैं। कुछ लोग इसको अच्छा समझते हैं। इस प्रात में सुधार का काम किसी विशेष ढग से नहीं किया गया, परतु हम सब ढगों पर चलना चाहते हैं।

यदि हम किसी एक उपाय का अवलंबन कर लें तो सब झगड़े शांत हो जाँय। यदि हम जन-समूह को छोड़ दें कि वे जो चाहें करें और हम अपना दल बनाकर अलग खड़े होने के लिये तय्यार हो जाँय तो हम को शांति मिले, क्योंकि हमारे मित्र जो सुधार के विरुद्ध हैं चाहते हैं कि हम यही करें। हम को बिरादरियों द्वारा सुधार करने में भी विश्वास नहीं। न हम इस बात की प्रतिज्ञा करना चाहते हैं कि जो युक्ति और बुद्धि के अनुकूल है उस पर चलें। अन्य प्रांतों के समाज संशोधन के कार्य में और हमारे कार्य में इस प्रकार के भेद हैं"।

उन्हीं दिनों रानडे ने दूसरा व्याख्यान "समाज संशोधन के इतिहास" पर दिया। उसके अंत में इस झगड़े का ज़िक्र इस प्रकार किया—"सुधारक और उनके विरोधियों में दक्खिन के ज़िलों मे जो झगड़ा हुआ वह इस अंश में विशेष कर लाभदायक है कि उस के कारण सर्वसाधारण का ध्यान कानफरेंस के उद्देश्यों की ओर गया। उन स्थानों में जहाँ मराठी भाषा बोली जाती है, बरार और मध्यप्रदेश में दोनों दलों में साल भर घोर और बलपूर्वक युद्ध हुआ। मैंने अपने पहले व्याख्यान में बतलाया है कि इस युद्ध का किसी दूसरे प्रांत मे होना असंभव था, क्योंकि इसका होना सिद्धांतों के कारण था, व्यक्तिगत झगड़ों के कारण नहीं। इस समय हमारा कर्तव्य है कि हम विचारें कि सुधारक लोगों का उनके प्रति, जो सुधार के विरुद्ध हैं, क्या बर्ताव होना चाहिए। हमारे पास बहु संख्या का बल नहीं है, परंतु

अपने विश्वास पर दृढ़ता, अपने काम की धुन, आत्म-समर्पण के लिये तत्परता आदि गुण हमारे अच्छे कार्यकर्त्ता लोगों में आ सकते हैं। यद्यपि ये कार्यकर्त्ता संख्या में थोड़े हैं परंतु अंत में वे विरोध को दूर करने मे कृतकार्य होंगे। सब से पहले हमें यह सीखना है कि हम सहन कर सकें और क्षमा कर सकें। लोग हमारी हँसी उड़ाएँगे, मानहानि करेंगे, कभी कभी हमारे शरीर को भी कष्ट पहुँचाएँगे—हम इन सब को सहन करें। गाली के जवाब मे गाली देने से हम दूर रहें। नाज़रेथ के महात्मा (ईसू) के शब्दों में, हम को सूली पर चढना है इस लिये नहीं कि कष्ट उठाना रुचिकर है वरंच इस लिये कि कष्ट और पीड़ा उस सिद्धांत के सामने जिसके लिये वे सहन की जाती हैं कुछ भी नहीं हैं। व्यक्तियों में मत-भेद हो तो हुआ करे। ऐसे मत-भेद तो मनुष्य स्वभाव की कमजोरी और मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण होते ही रहेंगे। यथार्थ में तो एक मनुष्य का मन दूसरे मनुष्यों के मन से मिलता है, हम सब मे ईश्वरीय तत्व की उपस्थिति इस मेल का मूल कारण है, और यही भाव है जो सब लोगों को प्रेम और सहानुभूति के बंधन से बाँधता है। आकाश के जल में उसी पृथ्वी का रंग आजाता है जिस पर वह बहता है, परंतु ये रंग भिन्न भिन्न प्रकार के जल नहीं बनाते। थोड़ी देर के लिये उनमें रंग का भेद मालूम होता है, पर अंत में वे मिलकर शुद्ध स्रोत के द्वारा महासागर में लीन हो जाते हैं, उनके पीछे मिट्टी कीचड़ और बालू रह जाता है। यदि इस विश्वास से हम कार्य करें तो सुधार का विरोध,

जिससे हमारा मन कभी कभी खिन्न हो जाता है, निरंतर उद्योग का साधन बन जाय। मेरी इच्छा है कि आप सब लोग गत मासों की घटनाओं को इसी भाव से देखें और जो मैंने इस स्थान से कहा है उससे यदि इस प्रकार के भाव उदय हों तो मुझे पूरी आशा है कि आप लोग इस कानफरेंस में व्यर्थ नहीं आए"।

पूना के झगड़े के बाद कांगरेस मंडप में कानफरेंस करने का विरोध कहीं नहीं हुआ। काशी ऐसे स्थान में भी कानफरेंस बड़े ज़ोर के साथ हुई। कुछ लोगों का कथन है कि रानडे ने पूना में विरोधियों के आंदोलन से दब कर स्थान जो बदल दिया उससे उनका सिर ऊँचा हो गया और १२ वर्ष के बाद सूरत की कांगरेस का झगड़ा इसी कारण हुआ। परंतु यह कथन निर्मूल है। यदि रानडे उस समय स्थान न बदल देते तो जो अवस्था पीछे सूरत में हुई उससे भी बुरी अवस्था पूना ही की कांगरेस में हो गई होती और इस कलंक का ठिकरा सोशल कानफरेंस पर फूटता।

सोशल कानफरेंस समस्त देश की संस्था है पर अब प्रांतिक सभाएँ और कानफरेंसें भी समाज संशोधन का उद्योग कर रही हैं। राजनैतिक सभाओं के साथ नत्थी होने से लोगों का ध्यान बँटा रहता है इस लिये बंबई प्रांत वाले सोशल कांफरेंस का एक विशेष अधिवेशन करते हैं जिस के साथ कोई राजनैतिक सभा नहीं होती।

अब कहीं कहीं ज़िलों और नगरों में भी समाज संशोधन संबंधी कानफरेंसें होने लगी हैं। देश में अनेक संस्थाएँ समाज-

की विशेष विशेष बुरी रस्मों को दूर करने के लिये स्थापित हैं। कोई स्त्रियों की अवस्था के सुधार का प्रयत्न करती है, कोई अछूत जातियों की दुर्गति के सुधार का उद्योग करती है, कोई विवाह संस्कारों की कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करती हैं। इस प्रकार समाज संशोधन के विचार सारे देश में फैल रहे हैं। अनेक जातियों में जैसे क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ प्रभृति सभाओं द्वारा सामाजिक उन्नति की पुकार सुनाई दे रही है, बाल-विवाह-निषेध, स्त्री-शिक्षा-प्रचार, विवाहादि में अपव्ययों को रोकना-इन विषयों का अब बहुत कम विरोध होता है। एक समय था जब स्त्रियों को पढ़ाना लोग बुरा समझते थे, जब बुड्ढों का विवाह छोटी कन्याओं के साथ होने पर किसी के कान नहीं खड़े होते थे, पर बाल-विधवा के विवाह का नाम सुन कर लोग कान में उँगली डाल लेते थे, जब समुद्र पार करके विदेश में शिक्षा अथवा अनुभव प्राप्त करके आना महा पातक समझा जाता था, जब सह-भोज से ग्लानि होती थी, जब बिरादरी की सीमा से बाहर प्रेम और सहानुभूति का नाम नहीं था। इन सब में अब परिवर्तन हो रहा है।

सोशल कानफरेंस ने अबतक जो प्रस्ताव पास किए हैं उन विषयों पर यहाँ थोड़ा सा उल्लेख कर देना उचित है।

स्त्री शिक्षा।

इस विषय पर सोशल कानफरेंस के प्रत्येक अधिवेशन में प्रस्ताव उपस्थित होता आया है। आरंभ में लोग इसका भी

विरोध करते थे। स्त्रियों को पढ़ने का अधिकार नहीं है, पढ़ लिख कर वे करेंगी क्या, पढ़ी लिखी स्त्रियों का घर-गृहस्थी के काम में मन नहीं लगेगा, इत्यादि बातें स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध कही जाती थीं। सोशल कानफरेंस और अन्य संस्थाओं के निरंतर आंदोलन, गवर्नमेंट, पादरियों और अन्य समाजों के उद्योग से कन्या-पाठशालाओं के खुलने के कारण अब इस विषय पर विरोध बहुत कम होता जाता है। आरंभ में कन्या-पाठशालाओं का खोलना भी कठिन था। लोग धन नहीं देते थे। बदमाश लोग कन्याओं और अध्यापिकाओं के रास्ता चलने में बाधा डालते थे, गृहस्थ लोग अपनी कन्याओं को पढ़ने के लिये नहीं भेजते थे। स्वयं स्त्रियाँ अपनी शिक्षा को अनावश्यक समझती थीं। ये सब कठिनाइयाँ अब बहुत कम होती जाती हैं। अब तो इस विषय के प्रस्ताव सोशल कानफरेंस में स्वयं महिलाएँ उपस्थित करती हैं। देश में अनेक कन्या-पाठशालाओं का प्रबंध भी महिलाएँ करती हैं। परंतु कठिनाइयों का अभी अंत नहीं है। स्त्री-शिक्षा का विरोध तो कम हो रहा है, परंतु पाठशालाओं के लिये अध्यापिकाएँ नहीं मिलतीं, कन्याएँ बाल विवाह के कारण स्कूल से जल्दी उठा ली जाती हैं, स्त्रियों के उपयोगी पुस्तकें कम मिलती हैं। अब मत-भेद इन विषयों पर रह गया है:-(१) स्त्रियों को किस भाषा की और किन किन विषयों की शिक्षा दी जाय, (२) जिन परीक्षाओं को बालक पास करते हैं क्या कन्याएँ भी उन्हीं को पास करें अथवा उनके लिये दूसरी परीक्षाएँ स्थापित की जाँय, (३) जिन पाठशालाओं मे

प्रारंभिक शिक्षा मिलती है क्या उन में छोटी अवस्था तक बालक और बालिकाओं को साथ पढ़ाने में कोई हानि है ? (४) जिस कुटुंब की स्त्रियाँ बाहर नहीं आ सकतीं क्या उनको घर घर जाकर अध्यापिकाएँ नहीं पढ़ा सकतीं ? (५) स्त्रियों को केवल प्रारंभिक शिक्षा दी जाय अथवा उच्च शिक्षा भी दी जाय ।

जहां पहले स्त्री-शिक्षा मात्र का विरोध था वहाँ अब इस प्रकार के समयोचित प्रश्न पूछे जाते हैं । स्त्रियों को शिक्षित बनाने पर मतभेद अब कम है । अब मतभेद है इस बात पर कि उनको अंग्रेज़ी पढाई जाय या नहीं । कुछ लोग अंग्रेज़ी पढ़ाने के बिलकुल विरुद्ध हैं । कुछ लोगों की सम्मति में संस्कृत पढ़ाना भी उचित नही हैं । वे चाहते हैं कि उनको केवल थोड़ा बहुत भाषा का ज्ञान दिला देना पर्याप्त है । यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित है कि प्राचीन आर्य ललनाएं शिक्षा पाती थीं । शिक्षा का अभाव अंग्रेज़ी राज्य के थोड़ी ही शताब्दी पहले से शुरू हुआ था, वर्तमान जागृति अंग्रेज़ी राज्य के आरंभ में हुई । इस यश के भागी बंगाल में ब्रह्मसमाज, बंबई में दादा भाई नौरोजी आदि महानुभाव, पंजाब और संयुक्त प्रांत में आर्य्य समाज और समस्त देश में गवर्नमेंट और ईसाई पादरी हैं । भारतवासी महानुभावों में पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर, लाला देवराज और प्रोफेसर कर्वे का नाम स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिये भारतीय इतिहास में स्मरणीय रहेगा । लाला देवराज का स्थापित जालंधर कन्या-महाविद्यालय उत्तरीय भारत में शिक्षा का स्तंभ है । पूना

का महिलाविद्यालय महात्मा कर्वे की, संगठन-शक्ति और आत्मासमर्पण द्वारा भारत मे प्रथम महिला-विश्वविद्यालय के गौरव को प्राप्त हुआ।

स्त्री-शिक्षा प्रचारकों के सुकार्य को अब लोग धीरे धीरे मानते जाते हैं। १८८४ मे रानडे, भांडारकर और शंकर पांडुरग ने मिलकर पूना में जो कन्याओं के लिये हाई स्कूल खोला था उस पर लोग उन्हें 'पागल' कहते थे और उनको हिंदू स्त्रियों के 'स्त्रीत्व' का नाशक समझते थे। इस स्कूल के खुलने के उत्सव पर रानडे के निम्नलिखित वाक्य बडे महत्व के हैं।

"बहुत से लोग कहते है कि जब कन्याएँ, उन प्रारंभिक पाठशालाओं से जो उनके लिये स्थापित हुई हैं उतने अंश तक भी फायदा नहीं उठातीं जितना संभव और उचित है, तब उनके लिये उच्च श्रेणी के स्कूल खोलना व्यर्थ है; मेरी सम्मति में जिन के ये विचार हैं उन्होंने हमारे बालकों के स्कूलों के गत ५० वर्ष के इतिहास से जो शिक्षा मिलती है उसपर उचित रूप से मनन नहीं किया है। जब सरकार ने शिक्षा-प्रचार आरंभ किया था, प्रथम २५ वर्ष तक बालकों के लिये केवल प्रारंभिक पाठशालाएँ खोली गई थीं। इसका परिणाम चिरस्थाई नहीं हुआ। जो भूमि कई शताब्दियों की अकर्मण्यता और अविद्या से सूख गई थी और कड़ी हो गई थी उस पर प्रारंभिक शिक्षा के बीज बोकर हरी भरी और विस्तृत खेती की आशा दुराशा मात्र थी। प्रारंभिक शिक्षा की आवश्यकता है और यह जितनी हो कम है, परंतु अकेले छोड़

देने पर यह जड़ नहीं पकड़ेगी और थोड़ी ही वृद्धि होने पर मुरझा जायगी । इसके साथ साथ इसके सहायक रूप में उच्च शिक्षा के प्रचार पर खूब धन और समय लगाने की आवश्यकता है । उच्च शिक्षा ही ओज और सफलता प्रदान करती है, नवजीवन का प्रचार करती है, विचारों की नवीन सृष्टि खोल देती है और जातीय उद्धार के उद्योगों में जान और शक्ति डाल देती है "।

सरकार ने कई स्थानों पर कन्या पाठशालाएँ खोली हैं। लोगों की खोली हुई पाठशालाओं की भी सरकार धन से सहायता करती है। इनके निरीक्षणार्थ के लिये मेम लोग नियुक्त हैं। कहीं कहीं हिंदुस्तानी शिक्षित महिलाएँ भी इस कार्य को करती हैं। अध्यापिकाओं को शिक्षा प्रणाली सिखलाने के लिये स्कूल हैं । परतु सरकार ने अभी तक पूर्ण हृदय से इस काम को अपने हाथ में नहीं लिया है। सरकारी कर्मचारियों का यह मत है कि अभी लोग इसके लिये तय्यार नहीं हैं। यह बात बिल्कुल भ्रमात्मक है। गदर के पहले सन् १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने, जो उस समय भारत के सचिव थे, शिक्षा सबधी अपने आज्ञा पत्र में इस बात पर हर्ष प्रगट किया था कि भारतवासियों में स्त्री शिक्षा के प्रचार के लिये उद्योग के चिह्न चारों ओर दिखलाई दे रहे हैं। उस समय की अपेक्षा अब बहुत जागृति हुई है। स० १८८८ में मिस मेरी कारपेंटर स्त्री शिक्षा प्रचार के निमित्त विलायत से भारतवर्ष में आई थीं । इस कार्य्य को वे अपने जीवन का आदर्श समझती थीं। यहा की अवस्था जानने के लिये सरकार ने ...

को हर प्रकार से सहायता दी थी। अनेक नगरो को देखने के बाद उन्होने सरकार को अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि हिंदू रमणियों को इंगलैंड देश की स्त्रियों के बराबर और कई अशो मे उनसे भी बढ कर होने के लिये केवल सुशिक्षा की आवश्यकता है। उन्होंने अध्यापिकाओ की शिक्षा के लिये पाठशाला खोलने पर आग्रह किया। इसी प्रकार सरकार ने समय समय पर स्त्री-शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया है। पर जिस इंगलैंड देश की प्राय. प्रत्येक महिला शिक्षित है, जो देश स्वयं शिक्षा और सभ्यता में संसार के अन्य देशो में अग्रगण्य होने का अभिमान रखता है, उस देश के राज्य मे भारत की ललनाओं को जितनी उन्नति करनी चाहिए उससे अब तक बहुत कम हुई है।

अक्तूबर १९१५ में विलायत के कुछ हिंदुस्तानी नेतागणो और भारत के कुछ अंग्रेज हितैषियो ने इस विषय को भारत सचिव के सम्मुख उपस्थित किया था। इस कार्य में सर कृष्ण गोविंद गुप्त, सर मंचूर जी भावनगरी, श्रीमती सेन, मिस्टर यूसुफ़ अली, सर विलियम वेडहवर्न, सर जान जार्डीन आदि सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर महिलारत्न मिसेज़ फ़ासेट ने भारत की स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार पर सरकार के कर्तव्यों को बतलाया था। इसके अनंतर भारतीय गवर्नमेंट ने २२ फरवरी सन् १९१६ को एक सरक्यूलर जारी किया जिससे आशा प्रगट होती है कि संभवत. अब सरकार इस ओर अधिक ध्यान दे। इस सरक्यूलर के आरंभ ही में

सरकार ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि स्त्री शिक्षा में यहां बहुत कम उन्नति हुई है।

स्त्री-शिक्षा सोशल कानफरेंस के विषयों में बड़े महत्त्व का विषय है। देश की उन्नति के साधन में स्त्रियों का योग देना आवश्यक है। बालकों की शिक्षा में माताओं का प्रभाव अकथनीय होता है। इस लिये राजा और प्रजा दोनों का धर्म है कि इस ओर अधिक ध्यान दें। हर्ष का विषय है कि स्त्रियों के उपकार के लिये देश में पत्र और पत्रिकाएँ निकलने लग गई हैं जिनमें से कईयों का संपादन स्वयं स्त्रियां करती हैं।

बाल विवाह निषेध।

भारत की कुरीतियों में बाल विवाह सबसे अधिक हानिकारक है। इसने देश के युवा और युवतियों के बल और बुद्धि को रोक दिया, इसने प्राचीन शास्त्रों के ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श को मिटा दिया। इस समय हमारे देश में पाँच वर्ष से भी नीचे की विवाहिता कन्याएँ मिलती हैं।

सोशल कानफरेंस में इस विषय पर पूरा आंदोलन होता चला आया है, परंतु भिन्न भिन्न अधिवेशनों के प्रस्तावों में बालकों और कन्याओं के विवाह की आयु के संबंध में भेद है—

लड़के की अवस्था		लड़की की अवस्था	
किसी में	२० वर्ष	किसी में	१६ वर्ष
किसी में	१८ से २१ वर्ष	किसी में	१२ से १४ वर्ष

१९१० में प्रयाग के २४ वें अधिवेशन में प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि बालकों के विवाह की अवस्था २० और बालिकाओं की १६ वर्ष रक्खी जाय। इसका घोर विरोध किया गया और अंत में बहु सम्मति से यह निश्चय हुआ कि कन्याओं का विवाह १६ वर्ष से और बालकों का २५ वर्ष से पूर्व न होना चाहिए। संभव है कि भिन्न भिन्न स्थानों के प्रस्तावों में भेद प्रांत-विशेष की स्थानिक अवस्था के विभेद के कारण हों। परंतु आदर्श वही होना चाहिए जो प्रयाग के अधिवेशन में निश्चय किया गया था और जो आदर्श हो वही प्रस्तावरूप में आना चाहिए।

बाल-विवाह के विषय पर भी देश में जागृति के लक्षण दिखलाई दे रहे हैं। कुछ स्कूलों और कालेजों में विवाहित बालक या तो भरती नहीं किए जाते या उनसे फीस अधिक ली जाती है। गुरुकुल, ऋषिकुल आदि संस्थाओं में केवल ब्रह्मचारी ही शिक्षा पाते हैं। इस संबंध में काशी का हिंदू कालेज और कांगड़ी का गुरुकुल अन्य संस्थाओं के लिये पहले पहल पथ-प्रदर्शक हुआ। इन पाठशालाओं में जिस प्रकार बालकों के लिये नियम बनाया जा रहा है उसी प्रकार कन्या पाठशालाओं में ऐसा ही नियम बनाने का भी समय आजायगा। बाल-विवाह के कारण कन्याएँ स्कूल से जल्दी हटा ली जाती हैं। कन्यापाठशालाओं की संख्या भी अभी कम है। इसका परिणाम यह है कि बालकों में तो बालविवाह कुछ कम हो रहा है, परंतु बालिकाओं के विवाह की अवस्था में भेद कम पड़ा है।

बालविवाह को बड़ोदा और मैसूर सरकार ने कानून के द्वारा रोकने का प्रयत्न किया है और इसमें कामयाबी भी हुई है।

स० १८७१ में केशवचंद्रसेन ने बंगाल के चुने हुए डाक्टरों की सम्मति इस विषय पर ली थी कि बंगाल की कन्याओं का विवाह कम से कम किस अवस्था में होता है और वे रजस्वला कब होती हैं। जो सम्मतियाँ आई थीं उन में बालविवाह की दुर्दशा का पता लगता है। ये सब सम्मतियाँ महाशय चिंतामणि की 'इंडियन सोशल रिफार्म' नामक पुस्तक में छपी हैं।

विवाह किस आयु में होना चाहिए, इसपर रानडे ने Age of Hindu Marriage नाम का लेख स० १८८७ में लिखा था जो Ranade's Essays on Religious and Social Reform नामक पुस्तक में छपा है। इसमें शास्त्रों के प्रमाणों से निश्चय किया गया है कि बालकों के विवाह की अवस्था २५ और बालिकाओं की १६ वर्ष होनी चाहिए।

१८९० में जब सोशल कानफरेंस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ था, विलायत के प्रसिद्ध मेंबर पार्लामेंट और मादक वस्तुओं के निषेध पर आंदोलन करनेवालों के नेता मिस्टर केन साहब उपस्थित थे। बालविवाह के प्रस्ताव के पास हो जाने के अनंतर उन्होंने एक छोटे से व्याख्यान में कहा था कि विलायत में इस विषय पर श्रीमती राजराजेश्वरी विक्टोरिया और अन्य पुरुष बहुत अनुराग रखते हैं। उन्होंने बतलाया कि अंग्रेज महिलाएं विशेषकर इस विषय पर आंदो-

लन कर रही हैं। उन्हों ने कहा कि पार्लामेंट के खुलने के बाद इस विषय पर विचार किया जायगा और यदि कोई मेंबर सहायता न करेगा तो उसकी पत्नी उसको बाध्य करेगी कि वह इस ओर ध्यान दे। विलायत में स्त्रियों का बड़ा ज़ोर है।

सन् १८८९ में जब सोशल कानफ़रेंस बंबई में हुई थी, बालविवाह के विरुद्ध समस्त देश में विलक्षण आंदोलन मचा हुआ था। बहरामजी मालाबारी जो उस समय के प्रसिद्ध पत्र-संपादक थे इसके विरुद्ध भारतवर्ष और इंगलैंड के प्रतिष्ठित लोगों को तय्यार करने के लिये कटिबद्ध हुए थे। उन के और अन्य लोगों के उद्योग से विलायत में एक सभा स्थापित हुई थी जिसमें कई मेंबर पार्लामेंट शरीक थे। भारत की अल्प वयस्क कन्याओं का विवाह, उनके पति से उनका प्रकृति-विरुद्ध समागम, बाल्यावस्था ही में उनका माता बन जाना, रोगी पुत्रों का उत्पन्न होना और मृत्यु को प्राप्त होना आदि कुरीतियों के चित्र ने जो मालाबारी ने अपनी अद्भुत लेखनी से खींचा था विलायत की रमणियों का ध्यान इस ओर खींच लिया था। सोशल कानफ़रेंस ने इ। विषय पर अगस्त १८९० में तीसरे अधिवेशन के प्रस्ताव के आधार पर भारतीय गवर्नमेंट की सेवा में आवेदनपत्र भेजा था। जिस पर सभापति काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, मंत्री रघुनाथ राव और अन्य ९० सभासदों के हस्ताक्षर थे। इस आवेदनपत्र और मालाबारी के आंदोलन का उद्देश्य यह था कि १८८२ के ज़ाब्ता फौजदारी के क़ानून में संभोग सम्मति की आयु, जो १० वर्ष की थी, वह १२ वर्ष कर दी जाय।

जनवरी १८९१ में क़ानून के इस प्रकार परिवर्तन करने का प्रस्ताव बड़े लाट की कौंसिल मे सर एँड्रयू स्कोवल ने पेश किया। माननीय सर रमेशचंद्र मित्र ने, जो पहले कलकत्ता हाई कोर्ट के जज रह चुके थे, इस का बड़ा विरोध किया। समस्त देश में आँदोलन मच गया। शास्त्रों की छान बीन होने लगी। इसके विरुद्ध और पक्ष ये सभायें होने लगीं। बंगालवाले इसका घोर विरोध करने लगे। २४ मार्च १८९१ को यह क़ानून पास हो गया। उस समय लार्ड लैंसडाउन बड़े लाट थे। उन्होंने बड़ी गंभीर और ओजस्विनी वक्तृता दी। लाट साहब ने स्वीकार किया कि कानून भी सुधार का प्रबल साधन है।

रानडे ने इस आँदोलन में पूरा हिस्सा लिया। एक दो बार मेल कराने की इच्छा से सुधारक लोगों को उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ दबने की सलाह दी, परंतु काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग आदि सुधारकों ने अपनी दृढ़ता को न छोड़ा। बंगाल के अतिरिक्त प्राय. सब प्रांतों के नेता लोग इस कानून के पक्ष में थे। बंगाल में भी बहुत से लोगों ने इसका समर्थन किया था।

समुद्र यात्रा।

हिंदू जाति उन लोगों को बिरादरी से निकाल देती है जो समुद्र पार करके दूसरे देशों में यात्रा कर आते हैं। हम लोग अंग्रेज़ी राज्य के अधीन हैं। इस राज्य की बाग-डोर विलायतवालों के हाथ मे है। विलायत समुद्र पार है,

वहां के लोग यहां आकर राज्य करें, व्यापार करें, अपने धर्म का प्रचार करें, परंतु यदि हम वहां विद्या सीखने, राजनैतिक कार्य करने अथवा व्यापार करने जाँय तो जाति से बाहर हो जाँय! अन्य देशों में कोलंबस, नैनसन, लिविंगस्टन आदि लोग उत्पन्न होते हैं, नवीन स्थानों का अनुसंधान करते हैं और अपने देश-वासियो से सम्मानित होते हैं। हमारे देश में ऐसी आत्माएँ उपस्थित अवश्य हैं, परंतु अवसर न मिलने के कारण वे दबी पड़ी रहती हैं। परंतु क्या भारतवर्ष में पहले समुद्र-यात्रा नहीं होती थी? इस प्रश्न का उत्तर बड़े बड़े विद्वान शास्त्रज्ञ और पुरातत्त्व-वेत्ता यही देते हैं कि प्राचीन आर्य समस्त सृष्टि में यात्रा करते थे। उन्होंने अनेक नवीन स्थानों को बसाया था, वे अन्य स्थानो में अपने धर्म्म का प्रचार करते थे, उन्हे जहाज़ बनाना आता था, वे अन्य जातियों से व्यापार करते थे। वर्त्तमान काल के बंधनों के रहते भी अनेक भारतवासियों ने विदेश जाकर, धर्म-प्रचार, विद्याध्ययन, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के लिये प्रसिद्धि प्राप्त की है।

सोशल कानफरेंस मे इस विषय पर सदा विचार होता आया है।

१८९० के अधिवेशन में पार्लामेंट के मेंबर मिस्टर सवान और मिसेज़ सुवान उपस्थित थीं। मिसेज़ सुवान ने समुद्र-यात्रा के प्रस्ताव पर व्याख्यान देते हुए कहा था कि इंगलैंड देश की राज्य प्रणाली में प्रजा का बड़ा ज़ोर है, परंतु वहां भारत की फर्याद सुनानेवाला कोई नहीं है। उनके कथन

का तात्पर्य यह था कि राजनैतिक उन्नति के लिये भी आवश्यक है कि हमारे प्रतिनिधि विलायत जाँय। मिसेज़ मुवान के कथन की सत्यता गोखले ने अपने जीवन से सिद्ध कर दी।

१८९२ की प्रयाग की छठीं कानफेरंस की रिपोर्ट में समुद्र-यात्रा विषय पर अनेक बातें बड़ महत्व की छपी हैं। इस विषय पर स्वयं रानडे ने प्रस्ताव उपस्थित किया था जिसमें उन्होंने भिन्न भिन्न प्रांतों में समुद्र-यात्रा संबंधी आंदोलन का वर्णन किया था। उन्होंने यह बतलाया कि पेशवाओं के समय में दो ब्राह्मण विलायत भेजे गए थे और वहा से लौट कर वे बिरादरी मे ले लिए गए थे। इसी प्रकार सातारा के राजा की ओर से एक आदमी भेजा गया था वह भी जाति से नहीं निकाला गया।

रानडे के बाद मैसूर राज्य के प्रतिनिधि पंडित कस्तूर रंगाचार्य शास्त्री ने संस्कृत में इसी विषय पर व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान रिपोर्ट में छपा है।

इसी रिपोर्ट में कलकत्ते की एक सभा का कार्य-विवरण छपा है। यह सभा १९ अगस्त १८९२ को हुई थी। इसमें बंगाल के पंडितों की व्यवस्था पढ़ी गई थी जिसमें उन्होंने अपनी सम्मति प्रगट की थी कि समुद्र-यात्रा करने मे कोई पाप नहीं है और समुद्र-यात्रा करनेवाला पतित नहीं होता। इस सभा के उद्देश्यों से सहानुभूति रखनेवालों म सर रमेश चंद्र मित्र, महामहोपाध्याय प० महेशचंद्र न्यायरत्न, सर गुरुदास बैनरजी, महाराजा बहादुर सर नरेंद्रकृष्ण प्रभृति लोग थे।

समुद्र-यात्रा अब चल निकली। प्राय: सभी राजा महाराजा अब विलायत हो आए हैं और उनके यहाँ ब्राह्मण लोग संस्कार बेखटके कराते हैं। राज्याभिषेक के समय महाराजा जयपुर बिलकुल हिंदू आचार व्यवहार के साथ लंदन-यात्रा करने गए थे। वर्त्तमान योरोपीय युद्ध में हिंदू सैनिक लोगों ने युद्ध स्थलों में जाकर अपनी वीरता का परिचय दिया है। पंजाबी विलायत से आकर प्रायश्चित्त भी नहीं करते। बहुत कोलाहल मचा तो हरिद्वार में गंगास्नान कर आए, बस छुट्टी हुई। बंगाल में रास्ता खुल गया है। कोल्हापुर के पास संकेश्वर के शंकराचार्य ने १८७२ में महाराजा होल्कर के एक हिंदू अफसर के विलायत से आने पर जाति में लेने की व्यवस्था दे दी थी। इसी प्रकार गुजरात के कैरा स्थान के शंकराचार्य ने भी व्यवस्था दी थी। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि विलायत जाकर भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं रहता। भारतवर्ष में रहकर जो आचार-भ्रष्ट होते हैं उनसे ऐसे प्रश्न क्यों नही पूछे जाते? भारत में रहकर कितने आदमी मांसभक्षण से बचे हुए हैं?

विलायत जाकर मांसभक्षण और मदिरापान से बचना संभव है। केशवचंद्र सेन विलायत में केवल चावल और आलू खाकर रहते थे। स्वामी रामतीर्थ ने कोई अभक्ष्य वस्तु नहीं खाई।

समुद्रयात्रा के विरोध का बड़ा भारी कारण यह रहा है कि पहले जो लोग विलायत से लौटते थे प्राय: उनका दिमाग बिगड़ जाता था, उनमें अंग्रेज़ियत अधिक आ जाती थी,

देशहितैषिता सीखने के बदले वे विलायत से घमंड, शादारी और अंग्रेजों की बुराइयाँ सीख आते थे। अब विलायत से आए हुए हिंदुस्तानी बहुधा देशभक्त होते हैं और उनका आचार व्यवहार भी अच्छा होता है। ज्यों ज्यों ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जायगी, जिनके विलायत में शिक्षा प्राप्त करने अथवा व्यापार करने से स्वदेश को लाभ होगा, त्या त्यों समुद्रयात्रा का विरोध घटता जायगा और बड़े लोग प्रायश्चित्त के उपहास कराने पर आग्रह कम करेंगे। इस समय तक भी समुद्रयात्रा से लाभ बहुत हुआ है। विलायत जानेवाले भारतवासियों में दो पार्लेमेंट के मेंबर हुए। इस समय तक दो हिंदू सेक्रेटरी आफ स्टेट की कौंसिल के सभासद हो चुके हैं, अनेक सिविल सर्विस आदि की परीक्षा पास करके उन उच्च पदों को प्राप्त हुए हैं जिन पर अंग्रेज नियुक्त हुआ करते थे। अंगरेज बैरिस्टरों के स्थान पर भारतवासी बैरिस्टरों की संख्या बढ़ रही है। कई विज्ञानवेत्ताओं और विद्वानों का आदर पहले विदेश में हुआ तब स्वदेश में उन्हों ने मान प्रतिष्ठा प्राप्त की।

अछूत जातियों का सुधार।

सोशल कानफरेंस के प्रथम कई अधिवेशनों में इस विषय पर कोई प्रस्ताव पास नहीं हुआ। कलकत्ते के दसवें अधिवेशन में इस पर विचार हुआ। यह विषय बड़े महत्व का समझा जाता है। बहुत सी सभाएँ जो प्राय सुधार के विरुद्ध रहती हैं वे भी इसका समर्थन करती हैं। इस विषय पर वर्त्त-

मान जागृति का कारण राजनैतिक है। मुसलमानों को कौंसिलादि में अपनी जाति के प्रतिनिधि अलग चुनने के अधिकार पर आंदोलन के समय कुछ मुसलमान नेता कह बैठे थे कि हिंदुओं के स्वत्व पर विचार करते हुए अछूत जातियों को हिंदुओं में नहीं गिनना चाहिए। इस पर हिंदू जाग उठे। स्थान स्थान पर सभाएँ होने लगीं, बड़े बड़े पंडित और शास्त्रज्ञ भी अछूत जातियों के सुधार पर व्याख्यान देने लगे।

१९११ की मनुष्य-संख्या के समय सरकारी अधिकारियों में यह चर्चा फैली कि अछूत लोग हिंदू जाति से अलग माने जाँय। इस समय भी हिंदू चौकन्ने हो गए। काशी आदि स्थानों के महामान्य पंडितों ने व्यवस्था दी कि अछूत लोग भी हिंदू हैं। काशी में एक सभा की गई। महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री ने सभापति का आसन ग्रहण किया और शास्त्र के प्रमाण उपस्थित किए कि अन्त्यज जाति के लोग भी हिंदू हैं।

इस जाति के लोग भारत के सब प्रांतों में मिलते हैं, परंतु प्रत्येक प्रांत में इनकी अवस्था भिन्न भिन्न है। पंजाब में न केवल लोग नाइयों के हाथ का पानी पीते हैं बल्कि ये लोग यज्ञोपवीत धारण करते हैं। अन्य प्रांतों में ये नीच समझे जाते हैं। मद्रास प्रांत में शूद्रों की अवस्था बहुत शोचनीय है। वहाँ के ब्राह्मण उनके साथ पशुओं से भी बुरा बर्ताव करते हैं। मंगलोर के जिले में इन पंचम लोगों के नाम 'बिल्ली' 'कुत्ता' 'मेंढक' 'गोजर' इत्यादि रक्खे जाते हैं। इनमें से एक जाति के लोग पत्तों से अपना शरीर ढकते हैं, दूसरी जाति के लोग

ज़मीन के ऊपर थूकने भी नहीं पाते। इस लिये वे गले में एक प्रकार की पीकदानी लटकाए रहते हैं। उन लोगों के नहाने के तालाब, चलने की सड़कें, रहने के मोहल्ले ब्राह्मणों की बस्ती से बिलकुल दूर हैं, परंतु यदि उनमें से कोई भी ईसाई हो जाय और अपना नाम बदल कर, कोट पतलून डाँट कर किसी ब्राह्मण के घर जाय तो उसका पूरा आदर किया जाता है। इसका परिणाम यह है कि इस जाति के लोग सहस्रों की संख्या में ईसाई बने चले जाते हैं। हमलोग ईसाइयों पर कलंक लगाते हैं कि वे नीच जातियों को ईसाई करके अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं। परंतु ईसाई इसको गौरव की बात समझते हैं। एक पादरी बिशप ने लिखा है कि जिस प्रकार पानी भरी हुई देगची आग पर रक्खी जाती है तो पहले नीचे के हिस्से का पानी गरम होता है तब ऊपर गरमी पहुँचती है और पानी उबलने लगता है उसी प्रकार जहाँ नीच जाति के हिंदू ईसाई धर्म में प्रवेश कर लेंगे, *ऊँची जाति के लोगों पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा*। इस जाति का जो व्यक्ति ईसाई हो जाता है उसको शिक्षा दी जाती है, सफ़ाई के साथ रहना बतलाया जाता है। दो तीन पीढ़ी में इनमें नीच जाति के अवगुण कम हो जाते हैं।

अछूत जातियों में कुछ लोग ऐसे हैं जो 'जरायमपेशा' समझे जाते हैं अर्थात् जो अपनी जीविका का चोरी, डकैती आदि से प्रबंध करते हैं। जब कभी उनके गाँव के आस पास चोरी होती है ये लोग पकड़े जाते हैं और सताए जाते हैं।

नीच और उच्च जातियों के होने से बड़ा नुक्सान यह हुआ है कि जो काम इस समय नीच कहलानेवाली जातियाँ

करती हैं वह काम भी नीच समझा जाने लगा है । सच तो यह है कि नीच काम चोरी, व्यभिचार आदि करना या भीख माँगना है, पर हमलोग झाड़ू देना, कपड़ा धोना, बढ़ई, लोहार का काम करना, जूता वेंचना नीच समझने लग गए हैं ।

अंत्यजों के सुधार के अनेक प्रयत्न इस देश में होते चले आए हैं । श्रीरामचंद्र और श्रीबुद्धदेव के प्राचीन काल में और वल्लभाचार्य, चैतन्य आदि महापुरुषों के वर्त्तमान काल में ऐसे लोगों से अनंत प्रेम करने का परिचय इतिहास से मिलता है । आजकल प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी इस संबंध में बहुत कार्य कर रही हैं । कई वर्षों से भारतीय अंत्यज-सुधारक-सभा स्थापित है । इसका नाम है The Depressed Classes Mission Society of India. इसका मुख्य स्थान बंबई है । महाराजा इंदौर इस के मुरब्बी [संरक्षक] हैं । सर नारायण चंदावरकर सभापति और महाशय शिंदे मंत्री हैं । इसके और इसकी शाखा सभाओं के द्वारा स्कूल चल रहे हैं, जिनमें से मंगलोर की संस्था बड़े महत्व की है । इसका नाम है The Depressed Classes Mission, Mangalore. । इसमें भाषा और अन्य विषयों की शिक्षा के अतिरिक्त दस्तकारी, कपड़ा बिनना आदि, सिखलाया जाता है। स्कूल के साथ छात्रालय भी है। यहां लड़के और लड़कियाँ दोनों पढ़ते हैं जिनकी संख्या सौ से ऊपर है । इसके साथ ही पंचम लोगों की बस्ती बसाई गई है और इसमें भी सौ से ऊपर निवासी हैं । इस बस्ती में अंत्यज लोग सकुटुंब रहते हैं । इन सब लोगों की एक मित्रमंडली है

जिसके सभासद प्रति दिन स्नान करते हैं, मादक वस्तुओं के प्रयोग से बचते हैं, सप्ताह में एक दिन सब मिल कर भजन गाते हैं। समय समय पर इनके लिये विशेष व्याख्यानों का प्रबंध किया जाता है। धीरे धीरे कार्यकर्त्ताओं में शिक्षित अत्यज भी सम्मिलित होते जाते हैं। सरकार भी इस संस्था की सहायता करती है।

इस प्रकार का काम मुक्ति फौज के ईसाई जो हिंदू साधुओं के भेष में रहते हैं बहुत करते हैं। उनकी अनेक संस्थाएँ हैं। हिंदू यदि जीवित रहना चाहते हैं तो इसी प्रकार की संस्थाएँ खोलें, पंचम लोगों से घृणा न करें, उनको साफ और शिक्षित देख कर प्रसन्न हों। भारतवर्ष की कुल मनुष्य संख्या में पाँचवा हिस्सा पंचम हैं। इनको अछूत नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार मुसलमानों की नेमाज में सब बराबर समझे जाते हैं उसी प्रकार देवपूजन में इनको शरीक करना चाहिए। तब इनमें से अनेक "रैदास" उत्पन्न होंगे और इस देश में भक्ति भाव का पुनः प्रवाह बहेगा।

१९०३ और १९०८ में कानफरेंस के जो अधिवेशन मद्रास में हुए थे उनमें विलायत से आए हुए प्रतिनिधियों के इस विषय पर सुंदर व्याख्यान हुए थे। मिस वेलमीन ने १९०३ में कहा था कि विलायत में शूद्र लोग अर्थात् कारीगर, मोची, चमार, बढ़ई, लोहार आदि जाति के प्राण समझे जाते हैं। इनमें से यदि कोई प्रयत्न करे तो पार्लामेंट का सभासद हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि 'इस देश में ब्राह्मण नशा नहीं पीते, शूद्र पीते हैं परंतु ब्राह्मण अपना यह

कर्त्तव्य नहीं समझते कि शूद्रों को शराब पीने से रोकें। यदि इनकी शराब छुड़ा दी जाय तो आबकारी से सरकारी आमदनी कम हो जाय।' परंतु खेद तो यह है कि नवीन सभ्यता के फेर में ब्राह्मण ही शराब के शिकार बन रहे हैं।

१८०८ के अधिवेशन में डाक्टर क्लार्क मेंबर पार्लामेंट ने इस विषय पर व्याख्यान देते हुए कहा कि भारत की राजनैतिक उन्नति के पक्ष में जब वे पार्लामेंट में आवाज़ उठाते हैं तब विरोधियों में एक दल यह कहता है कि भारतवर्ष के मुट्ठी भर शिक्षित और उच्च जाति के लोगों को स्वराज्य देना बुद्धिमत्ता नहीं है। भारत की भविष्य राजनैतिक वृद्धि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि यहाँ के शिक्षित लोग अछूत जाति के लोगों से किस प्रकार बर्ताव करते हैं।

इस अधिवेशन में इसी विषय पर व्याख्यान देते हुए माननीय गोखले जी ने कहा था "मैं राजनैतिक क्षेत्र में उतने ही शुद्ध हृदय से काम कर रहा हूँ जितना मेरे अनेक देशवासी कर रहे हैं तिस पर भी आपस मे बैठ कर मैं यह कहता हूँ कि हमको अपने दोष और अपनी त्रुटियाँ छिपाने से कोई लाभ नहीं। मेरी सम्मति में इससे बढ़ कर दूसरा कलंक नहीं है कि हमने इन पाँच करोड़ ३० लाख मनुष्यों को इस दशा में रख छोड़ा है।" आगे चल कर उन्होंने कहा कि ४० वर्ष पूर्व जापान में 'जीता' नाम की जाति भी अछूत लोगों की नाईं समझी जाती थी, वे सड़क की रद्दी जमा किया करते थे। उनसे कोई छूता नहीं था। उनके लिये सभ्यता नहीं थी। परंतु जब जापान में नए विचारों का प्रादुर्भाव

हुआ, जब वे अपनी दशा पर सोचने लगे उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। मिकादो (राजा) ने राजाज्ञा प्रकाशित की कि 'ऐता' जाति का भेद मिटा दिया जाय। इस समय इस जाति के लोग ऊँची जाति के लोगों से बराबरी का दावा रखते हैं।

भारतवर्ष विशाल देश है। जहाँ अछूत जातियों, जरायम पेशा लोगों के शिक्षा और सुधार की आवश्यकता है वहाँ नित्य प्रति स्थान स्थान पर घूमनेवाले बंजारो, पहाड़ों और जंगलों में रहनेवाले असभ्य लोगों की शिक्षा और सुधार भी श्रेयस्कर है। सरकार और ब्रह्म-समाज आदि संस्थाओं द्वारा कुछ कार्य हो रहा है परंतु वह संतोषजनक नहीं है।

१६ मार्च १९१६ को बड़े लाट की कौंसिल में मध्य प्रदेश के माननीय दादाभाई ने इस विषय पर प्रस्ताव उपस्थित किया था। उसके संबंध में प्रांतिक सरकार से सम्मति माँगी जा रही है। यद्यपि सरकार 'भर' आदि अंत्यज जातियों के लिये प्रारंभिक स्कूल खोल रही है परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि अब तक दिल खोल कर सरकार ने ऐसी जातियों की शिक्षा का पूरा प्रबंध नहीं किया है।

शुद्धि।

दूसरे धर्मवालों को हिंदू धर्म में ले लेने की प्रथा को उत्तरीय भारत में "शुद्धि" कहते हैं, यद्यपि यह शब्द अच्छा नहीं है। सोशल कानफरेंस का मत मतांतर से कोई संबंध नहीं है इस लिये कानफरेंस में जो प्रस्ताव इस संबंध में उपस्थित होते हैं वे केवल उन लोगों की शुद्धि के पक्ष में होते हैं

जो जन्म से हिंदू थे, फिर ईसाई या मुसलमान हो गए और पुनः अपनी इच्छा से हिंदू धर्म्म में आना चाहते हैं। पहले के अधिवेशनों मे इस विषय पर कभी विचार नहीं हुआ परंतु १८९७ से प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में इस संबंध में प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है। पहले विरोध का डर अधिक था इस लिये लंबी चौड़ी युक्ति युक्त वक्तृताएँ हुआ करती थीं परंतु अब प्रायः सभापति ही इस विषय के प्रस्ताव को उपस्थित कर देते हैं। हिंदू समाज में इसकी आवश्यकता के संबंध मे अब संदेह कम हो रहा है। हिंदू समाज इस समय ऐसे घर की नाई हो रही है जिसके बाहर जाने का द्वार खुला हो और अंदर आने का द्वार बंद हो। ऐसे घर को खाली होने में बहुत दिन नहीं लगते। मुसलमानों के राज्य में हिंदुओं की संख्या कम हो गई। भारत की वर्तमान मुसलमान प्रजा पहले हिंदू धर्म्मावलंबिनी थी। ईसाई मत के प्रचार होने पर संख्या और कम होने लगी। अकाल, महामारी, आदि के कारण सहस्रों की संख्या में हिंदू ईसाई होने लगे। अछूत जाति के लोग हिंदुओं से अलग होने लगे। इस प्रकार हर तरफ से हिंदुओं की क्षति ही होने लगी। जो हिंदू धर्म्म से बाहर हुए वे सदा के लिये अलग हो गए। ऐसे लोग या तो ज़बरदस्ती, या प्रलोभनों में पड़ कर या अपने विश्वास से दूसरे धर्म में जाते हैं। इनमें से कई पश्चात्ताप करते हैं, अपनी अवस्था पर रोते हैं परंतु हिंदू समाज इनको दूर रखता है।

इतिहास से सिद्ध है कि भारत में पहले बौद्ध धर्म्म का प्रबल ज़ोर था। श्री शंकराचार्य ने लोगों को फिर हिंदू धर्म

में शरीक कर लिया। महाराष्ट्र राज्य के समय राजाज्ञा द्वारा कई हिंदुओं ने जो यवन धर्म्म में चले गए थ फिर से हिंदू धर्म्म मे प्रवेश किया। सिक्ख धर्म्म सब धर्म्मवालों को अपने मे मिलाने के लिये तय्यार हैं। महाराजा काश्मीर ने इस विषय के पक्ष में प्रसिद्ध पंडितों की व्यवस्था का संग्रह किया था। पजाब की कई सनातन धर्म सभाएँ शुद्धि करती हैं, पर शुद्धि के काम मे इस समय अगुआ बनने का यश आर्य-समाज को प्राप्त है। हज़ारों भूले भटके बच्चों को आर्य समाज ने अपने माता पिता के धर्म में मिलवा दिया। हज़ारो अछूत जातिवालों की अवस्था बदल दी। इस काम के लिये पं० लेख-राम और पं० भोजदत्त का नाम इतिहास मे स्मरणीय रहेगा।

कुछ वर्ष हुए एक अखिल भारतीय शुद्धि सभा स्थापित की गई थी जिसके अग्रगण्य, कलकत्ता हाईकोर्ट के सनातन धर्मी भूतपूर्व जज श्री शारदाचरण मित्र थे। यद्यपि यह सभा टूट गई तथापि इसके द्वारा उन लोगों में इस विषय के लिये सहानुभूति उत्पन्न हो गई जो बहुधा सुधारक संस्थाओं से दूर रहते हैं।

बहुत से लोगों का ख्याल है कि शुद्धि की प्रथा चलाने से मुसलमान और ईसाई हिंदुओं से अप्रसन्न हैं। परंतु सोचने की बात यह है कि क्या हर एक व्यक्ति को अपना मत आप चुन लेने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है कि यदि वह किसी मत विशेष से असंतुष्ट हो तो उसको त्याग कर अथवा सुधार कर नवीन मत ग्रहण करे। महान पुरुषों के जीवन और जातियों के इतिहास इस कथन

की सत्यता की साक्षी दे रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि हिंदू भी अपने वर्तमान समाज को इस प्रकार परिवर्तित करें कि अन्य धर्मावलंबी इसमें प्रवेश कर सकें तो इसमें दूसरे धर्मवालों के बुरा मानने की क्या बात है। जहाँ यह प्रथा चल निकली कोई बुरा नहीं मानेगा। इसके विपरीत आपस में प्रेम बढ़ेगा और दंभियों की संख्या कम हो जायगी क्योंकि इस समय बहुत से लोग सामाजिक दंड के कारण अपने हृदय के धार्मिक भावों को दिल ही में रख छोड़ते हैं। इस विषय पर सब से अच्छे शब्दों मे १९०० की लाहोर की सोशल कानफरेंस ने प्रस्ताव पास किया था जिसका अनुवाद यह है—

"यह सम्मेलन उस उद्योग को संतोष की दृष्टि से देखता है जो पंजाब, संयुक्त प्रांत और मध्य प्रदेश में अन्य मतों में चले जानेवाले लोगों को स्वधर्म्म में पुनः प्रवेश कराने के लिये हो रहा है क्योंकि इस प्रकार के प्रवेश से धार्मिक भावों की सत्यता बढ़ेगी और हर प्रकार से सामाजिक प्रेम पुनः स्थापित होगा"।

अन्य धर्मावलंबियों के हिंदू धर्म स्वीकार करने अथवा उसकी प्रशंसा करने पर अब स्वयं हिंदू भी प्रसन्न होते हैं। एनी बेसेंट और सिस्टर निवेदिता की कृतज्ञता कौन हिंदू अस्वीकार करेगा? मैक्समूलर के गुण हिंदूमात्र गाते हैं क्योंकि उन्होंने पक्षपात रहित हो योरोपियन लोगों में हिंदुओं के प्राचीन शास्त्र और इतिहास की मान मर्यादा बढ़ाई। इतिहास पढ़नेवाले हिंदू विद्यार्थी अकबर, फैज़ी और दारा के हिंदू-प्रेम की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते।

विधवा-विवाह।

कानफरेंस के विषयों में इससे अधिक विवादग्रस्त दूसरा विषय नहीं है। इस विषय पर अनेक बेर विचार हुआ है और प्रत्येक स्थान में झगडे की संभावना रहती है।

पहले कई वर्षों तक इस विषय पर कोई प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया गया। पाँचवी कानफरेंस में निर्विवाद यह प्रस्ताव पास हुआ। महाशय बाल गंगाधर तिलक ने यह सुधार पेश किया था कि जो लोग विधवा विवाह करें उनके साथ सह-भोज होना चाहिए।

सातवीं कानफरेंस में लाला देवराज जी ने बतलाया था कि उस समय केवल पंजाब में ४ वर्ष तक की ८१६ विधवाएँ थीं, पाँच और नौ वर्ष के बीच की २६३४ दस और चौदह वर्ष के बीच की ९१३५, पंद्रह और उन्नीस के बीच की २८,४०७, बीस और चौबीस के बीच की ५८०४८।

मद्रास में आठवीं कानफरेंस में अध्यापक वीर सलिंगम पंतलू ने जो मद्रास प्रांत के ईश्वरचंद्र विद्यासागर कहे जाते हैं व्याख्यान दिया।

परंतु मद्रास में जब बारहवीं कानफरेंस हुई तब इस विषय पर कुछ थोड़ा सा विरोध हुआ था परंतु वह शीघ्र ही शांत हो गया।

१९०१ में जब कानफरेंस कलकत्ते में हुई तब इस विषय का विपक्षियों ने बलपूर्वक विरोध किया था। सभापति थे राजा विनय कृष्ण बहादुर जो सनातनधर्मावलंबी होने पर भी सुधार के पक्षपाती थे। इस विषय पर जो प्रस्ताव था उसके संबंध में वे उदासीन थे। प्रस्ताव के शब्द ये थे, "इस सम्मेलन को अत्यंत

दुःख है कि जिस (बंगाल) प्रांत ने सब से पहले विधवाओं के पुनर्विवाह की रुकावटों को दूर करने का प्रयत्न किया था उस प्रांत में इस ओर अब उद्योग कम हो और अन्य प्रांत उसकी अपेक्षा इस कार्य्य मे अधिक सफलता प्राप्त करें इत्यादि " इस विषय के व्याख्यानदाताओं के वक्तव्य में लोग विघ्न ालने लगे। अंत में प्रस्ताव पास हुआ। इस अवसर पर ार नारायण चंदावरकर का व्याख्यान कानफरेंस के इतिहास में अंकित करने योग्य है। जब सभापति उदासीन हों और चारों ओर से विरोधी चिल्ला रहे हों, विरोधियों में कुछ फसाद करनेवाले भी हों ऐसे समय में श्रोताओं को अपने पक्ष में कर लेना टेढ़ी खीर है। चंदावरकर इसमें सफलीभूत हुए। इस अवसर पर डाक्टर बुलीचंद्र सेन ने अपने व्याख्यान में बतलाया था कि बंगाल में एक वर्ष से चार वर्ष के अंदर की २३४८; पाँच से नौ के बीच में ७ ९६४, दस से चौदह के बीच में २९८६३ और कुल ४० १७५ विधवाएँ उस समय थीं।

कई स्थानों में लोगों ने सलाह दी कि कानफरेंस से विधवा-विवाह का विषय निकाल दिया जाय। १८९६ में भी जब कलकत्ते में कानफरेंस हुई थी रानडे को उनके बंगाली मित्रों ने यही सलाह दी थी। परंतु यह सलाह मानी नहीं गई।

मद्रास की सत्रहवीं कानफरेंस और काशी की उन्नीसवीं कानफरेंस के अधिवेशनों में यह आशंका थी कि इस विषय पर घोर विरोध होगा पर यह आशंका निर्मूल निकली। इस संबंध में सब से विचारपूर्ण प्रस्ताव प्रयाग में १९१० की कानफरेंस में पास हुआ था जो यह था—

"युवा विधवाओं की शोचनीय अवस्था का सुधार प्रत्येक प्रांत में विधवा आश्रमों के खोलने या उनकी सख्या बढ़ाने, उनको कलाकौशलादि की शिक्षा देने और जो पुनर्विवाह करना चाहे उनको निर्विघ्न ऐसा करने की आज्ञा देने से हो सकता है"।

विधवा-विवाह के समर्थक यह नहीं चाहते कि ससार की सब विधवाओं का विवाह कर दिया जाय। सुधारक कृतज्ञता पूर्वक उन महिला-रत्नों के उच्च आदर्श और पवित्र जीवन को स्वीकार करते हैं और उनको देश की आध्यात्मिक संपत्ति समझते हैं जो अपने वैधव्य काल को आत्म विचार और आत्मोन्नति में लगाती हैं। सुधारक मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं कि हिंदू-समाज का यह नियम अत्यंत प्रशसनीय है कि प्रत्येक कुटुंब किसी न किसी निराश्रया विधवा का थोड़ा बहुत पालन पोषण करके यश का भागी होता है।

सुधारक विधवाश्रम खोलने का प्रयत्न इसी लिये करते हैं कि विधवा स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त हो और वे देश की सेवा करने योग्य बनें। परंतु यह निर्विवाद है कि विधवाओं के साथ अच्छा बर्ताव नहीं होता। अनेक जातियों में उनका सिर मुड़वा डाला जाता है, प्रात काल उनका मुँह देखना बुरा समझा जाता है, यदि कोई बाहर जाता हो और विधवा सामने पड़ जाय तो अशगुन समझा जाता है।

बाल विधवाओं की अवस्था विशेष कर शोचनीय है। चालिस, पचास और साठ वर्ष के मर्दों के विवाह हो जाते हैं परंतु नौ वर्ष की विधवा का विवाह नहीं हो सकता। उससे आशा की जाती है कि वह ब्रह्मचारिणी रहे जब कि घर के

अन्य लोग ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों के बिलकुल विपरीत चलते हैं। कहा जाता है कि बाल-विवाह बंद हो जाने पर विधवा-विवाह की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, मानो जो बालिकाएँ पहले से विधवा हो चुकी हैं उनकी अवस्था विचार योग्य ही नहीं है। क्या कोई कह सकता है कि बाल-विवाह दूर होने पर मर्दों में असामयिक मृत्यु ही नहीं होगी और क्या बालविवाह संतोषजनक रूप से कम हो रहा है ?

विधवा-विवाह संबंधी आंदोलन पेशवाओं के समय से चला आ रहा है। परशुराम भाऊ की कन्या का विवाह पांच और नौ वर्ष की अवस्था के बीच में हुआ था। यह लड़की विधवा हो गई तो परशुराम अत्यंत दुःखित हो कर संसार से विरक्त होने पर तैयार हुए। पेशवा दर्बार ने शंकराचार्य और काशी के पंडितों से उसके पुनर्विवाह की व्यवस्था मांगी। शंकराचार्य ने व्यवस्था नहीं दी परंतु काशीस्थ पंडितों ने दे दी। इस व्यवस्था पर सैकड़ों हस्ताक्षर थे। परंतु विवाह कन्या की माता के विरोध के कारण रुक गया।

१८३७ में महाराष्ट्र देश में एक तेलगु ब्राह्मण और रत्नागिरी के एक निवासी ने मिल कर इस विषय के पक्ष में एक पुस्तक लिखी थी। इसके पीछे एक और पुस्तक निकली थी। बाबा पदमाजी ने भी " कुटुंब सुधारण " और " यमुनापरयटन " नाम की दो पुस्तकें इसी विषय पर लिखी थीं। पर बाल-विधवाओं की अवस्था पर पूर्ण दया करनेवाले सब से पहले बंगाल में पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर हुए। उन्होंने १८५४ में इस विषय पर बड़ी खोज के बाद शास्त्रों के प्रमाणों

से भरी हुई बँगला पुस्तक लिखी। यह पुस्तक देश भाषा में लिखी गई थी इस लिए इसका बड़ा विरोध हुआ। कई स्थानों पर इसके विरुद्ध सभायें हुई पर इस बेर भी सरकार के पूछने पर पंडितों ने इसके पक्ष में सम्मति दी। इस समय देश में खूब आंदोलन था, जिसका परिणाम यह हुआ कि १८५६ में यह कानून पास हुआ कि विधवा के पुनर्विवाह से जो संतान उत्पन्न होगी वह अनाधिकारी नहीं समझी जायगी। इसमें सफलता प्राप्त कर विद्यासागर ने सात दिसंबर १८६५ को कलकत्ते में पहला विधवा विवाह करवाया। विद्यासागर और उनके अन्य मित्र बिरादरी से निकाले गए। विद्यासागर ने अपना काम जारी रखा यहाँ तक कि अपने लड़के का विवाह भी उन्होंने एक विधवा से किया। इस आंदोलन में विद्यासागर निर्धन हो गए। उन पर हजारों रुपयों का ऋण हो गया। उनके बाद बंगाल में शशिपदो बैनरजी ने विधवाश्रम खोल कर विधवाओं की बड़ी सहायता की, पर बंगाल में इस सुधार की ओर रुचि कम ही होती गई।

१८६६ में बंबई में विधवा विवाह सभा स्थापित हुई जिसमें रानडे, तैलंग, परमानंद आदि शरीक हुए। पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तक का विष्णुशास्त्री पंडित ने मराठी भाषा में अनुवाद किया। इस पर बड़ा विरोध हुआ। चारों ओर से शास्त्रार्थ शुरू हो गया। विष्णुशास्त्री जितने अच्छे लेखक थे उतने ही अच्छे वक्ता भी थे। उन्होंने नासिक, पूना आदि स्थानों में जाकर व्याख्यान देने शुरू कर दिए। उनके विरुद्ध भी व्याख्यान होने लगे। लोगों में इस विषय की

चरचा छिड़ गई। १५ जून १८६९ को वेणुबाई का जो बाल-विधवा थी विवाह पांडुरंग विनायक करमरकर से हुआ। विष्णुशास्त्री को धमकी के पत्र आने लगे परंतु उन्होंने इसकी परवाह न की। उन्होंने इस विवाह को बड़े धूमधाम से रचा। जिन सात आदमियों के हस्ताक्षर से निमंत्रणपत्र भेजे गये थे उनमें रानडे भी थे। विष्णुशास्त्री ने स्वयं विवाह संस्कार कराया। इसके साथ भोज दिया गया जिसमे बहुत से लोग शरीक हुए। यह पहला विवाह था तिस पर भी अनेक सहानुभूति प्रकट करनेवाले मिल गए। विरोधियों ने इन लोगो को विरादरी से निकालने की ठानी। अंत में सोच विचार कर केवल हस्ताक्षर करनेवाले सातो आदमी, और वर और वधु निकाले गए।

२८ मार्च १८७० से पूना में इस विषय पर शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। यह नौ दिन तक रहा। विष्णुशास्त्री शास्त्रार्थ करते थे। रानडे उनके सहायक थे। ५ आदमी सुधारक लोगों की तरफ से और ५ विरोधियों की ओर से पंच नियत हुए। सुधारकों के पक्षपातियो में से एक जो उनको शास्त्रों के प्रमाण तलाश करके देते थे दूसरे दल में जा मिले। इसके बाद कुछ मुकदमेबाज़ी चली। इंदुप्रकाश में २५० आदमियों की सम्मतियाँ विधवा-विवाह के पक्ष मे प्रकाशित हुईं। ६ जून को दूसरा पुनर्विवाह हुआ। दो वर्ष के अनंतर स्वयं विष्णुशास्त्री ने विधवा से विवाह किया। इसी समय रानडे ने इस विषय पर अंग्रेज़ी में शास्त्रों के प्रमाणों का उल्था छपवाया। धीरे धीरे गुजरात प्रांत में भी आंदोलन आरंभ हुआ।

१८८४ में मालाबारी ने इस विषय पर पुस्तकें लिखीं और आंदोलन आरंभ किया। इस काम में दीवान बहादुर रघुनाथराव ने जो सनातन धर्मावलंबी प्रसिद्ध थे मालाबारी का हाथ बटाया। प्रिंसिपल आगरकर और अध्यापक कर्वे ने भी विधवाओं के कार्य में बड़ी सहायता दी। कर्वे ने स्वयं विधवा से विवाह किया। उस समय तिलक के पत्र ने और अन्य कई सनातनधर्मी पत्रों ने भी दबी ज़बान से उनकी प्रशंसा की। कर्वे बहुत दिनों तक विधवा-विवाह के पक्ष में स्थान स्थान पर व्याख्यान देते फिरते थे। एक बेर वे बंबई व्याख्यान देने गए। रानडे भी वहां उपस्थित थे। व्याख्यान का प्रभाव लोगों पर अच्छा पड़ा। एक युवा पुरुष ने खड़े होकर कहा कि विधवा विवाह के सर्वप्रिय न होने का दोष रानडे पर आता है क्योंकि वे अपने सिद्धांतों पर नहीं चलते। इस युवा पुरुष का तात्पर्य शायद यह था कि रानडे को अपनी पहली स्त्री के मरने पर विधवा से विवाह करना चाहिए था। रानडे ने शांतिपूर्वक खड़े होकर कहा-" हम तो लँगड़े और लूले हैं। आप लोग आगे बढ़िए, हम भी आप के पीछे लँगड़ाते हुए धीरे धीरे चले आवेंगे " यह कह कर रानडे ने बड़ी महत्त्व-पूर्ण वक्तृता दी।

कर्वे के साथियों में अध्यापक भाटे और भाजेकर ने भी बड़ा कार्य किया है। इस संबंध में डाक्टर भांडारकर का जो सब के अगुआ हैं नाम लिखना आवश्यक है। इन सब ने जो कहा वह कर दिखलाया।

संयुक्त प्रांत में शाहजहांपुर के लाला बख्तावर सिंह और

बिजनौर के पंडित श्रोत्रिय शंकरलाल विधवा-विवाह प्रचारकों में प्रसिद्ध हुए हैं। काश्मीरी ब्राह्मणों में पहला विधवा-विवाह १९१६ में आगरे में हुआ। इसमें घर की बूढ़ी स्त्रियाँ और पुरोहित भी शरीक हुए। परंतु इस जाति में सबसे पहले इस विषय पर आंदोलन कलकत्ते के जस्टिस शंभूनाथ के पुत्र पं० प्राननाथ ने आरंभ किया था।

पंजाब में दीवान संतराम ने जो चौदहवीं कानफरेंस के सभापति हुए थे अपनी विधवा कन्या का विवाह काशी, प्रयाग आदि स्थानों के पंडितों से पूछ कर किया था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि पंजाब में सैकड़ों विधवाओं के विवाह हो चुके हैं। यद्यपि स्वामी दयानंद सरस्वती विधवा-विवाह के विरुद्ध थे तब भी आर्यसमाज द्वारा इस सुधार को बड़ी सहायता मिली है। पहले प्रत्येक कानफरेंस में वर्ष के अंदर जितने पुनर्विवाह हुआ करते थे उनकी संख्या का उल्लेख होता था, परंतु अब ऐसे विवाहों की संख्या बढ़ रही है। इसके भी अब अनेक उदाहरण मिलते हैं कि बाल-विधवाओं की माताएँ उनके पुनर्विवाह के लिये अपनी सम्मति दे देती हैं।

मद्रास में सबसे पहला विधवा-विवाह १८८१ में हुआ था। उस समय से अध्यापक वीरसलिंगम पंतलू अजाती किए गए थे। उन्होंने राजमहेंद्री में विधवा-विवाह सभा खोल कर अनेक पुनर्विवाह कराए।

अब विधवाओं की अवस्था पर दया करनेवालों की संख्या बढ़ रही है। जो लोग उनके लिये आश्रम खोल कर उनको

अध्यापिका के अथवा चिकित्सा के काम के योग्य बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं वे देश के सच्चे हितैषी हैं और जो आवश्यकता पड़ने पर किसी प्रकार बाल विधवाओं के विवाह में मदद करते हैं वे सुधारक वीर पुरुष कहे जाने योग्य हैं। विधवा विवाह का प्रश्न स्त्रियों के प्रति न्याय का प्रश्न है। मर्दों में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने पहली स्त्री के मरने के दो एक महीने के अंदर दूसरा विवाह कर लिया, परन्तु स्त्री यदि बाल विधवा भी हो तो उसका विवाह धर्मविरुद्ध समझा जाता है। आदर्श यह होना चाहिए कि मर्द एक पत्निव्रत लें और स्त्रियां एक ही पति से विवाह करें और यदि यह न निभे तो जिस मर्द की स्त्री मर जाय वह यथासंभव विधवा से विवाह करे। जो विधवा से विवाह कर ले उसको अजाति नहीं करना चाहिए। इस समय यदि कोई मर्द किसी विधवा को अपने घर में रख लेता है तो इस घोर पाप के कारण बिरादरी से अलग नहीं किया जाता परन्तु यदि वह उससे विवाह कर ले तो पतित समझा जाता है। इस प्रकार समाज, व्यभिचार रोकने के बदले उसके बढ़ने का कारण बन गई है।

नाच और नशे से परहेज

राजा रामपाल सिंह (कालाकाँकर) ने आठवीं कानफरेंस में कहा था कि जिस राजा के घर में हाथी न हो और रंडी नाचने न बुलाई जाए वह मनहूस समझा जाता है। इस देश में नाच की प्रथा इतनी बढ़ गई है कि विवाहादि अवसरों पर, यहां तक कि मंदिरों के उत्सवों पर, रंडियाँ

बुलाई जाती हैं। इस विषय पर कानफरेंस में सदा प्रस्ताव उपस्थित होते हैं। देश के भिन्न भिन्न भागों में नाच के विरुद्ध और चरित्र सुधार संबंधी संस्थाएँ इस प्रथा को दूर करने के लिये स्थापित हैं। इनमे न केवल नाच ही के दूर करने का प्रयत्न किया जाता है बल्कि होली आदि त्योहारों पर और अन्य अवसरों पर गाली बकने और नशा पीने का निषेध भी किया जाता है। गंदी बातें करने, गंदे विचार रखने और घृणित कार्य करने के विरुद्ध ये सभाएँ बड़े उपकार का काम कर रही हैं। इनके द्वारा नाच कम हो रहा है, होली के त्योहार पर "पवित्र होली" नाम की सभाएँ होती हैं जिनमें शिक्षित लोग और नगर के बंधे संगीत, जादू की लालटैन का तमाशा अथवा अन्य मनोरंजन की बातों से अपना मन बहलाते हैं। कायस्थ और दूसरी बिरादरियों की कानफरेंसों के अनुरोध से अब अनेक बिरादरियों में विवाहादि अवसरों पर नाच नहीं होता और शराब नहीं पी जाती। कुछ लोग कहते हैं कि रंडियों का नाच बंद करने से भारत के संगीत को क्षति पहुँचेगी। सुधारक यह नहीं चाहते कि देश से संगीत उठ जाय। सुधार सभाओं में और सुधारक लोगों के संस्कारों में संगीत को ऊँचा आसन दिया जाता है, यद्यपि संगीत-शास्त्र के अनुसार उनके भजन और गीत ऊँचे दर्जे के नहीं होते। आशा है कि दिन पा कर सुधारक लोगों में भी अच्छे कवि और गानेवाले पैदा होंगे। गानेवाली स्त्रिया बाजारु होती हैं। वे संसार में व्यभिचार फैलाती हैं। वे अनेक प्रकार के आभूषण और भड़कीले वस्त्र

पहन कर लोगों के सामने आती हैं। जलसों में नाच दिखला कर वे रुपया ही नहीं पाती बल्कि नवयुवक दर्शक लोगों में से कई उनके शिकार हो जाते हैं। अमीरों के बालक बहुधा इसी तरह उनके पंजे में फँस कर चौपट हुए हैं। हमलोगों को चाहिए कि संस्कारों और त्योहारों पर रंडियों का नाच न करावें और किसी ऐसे जलसे में शरीक न हों जहां नाच हो। पवित्र काशीपुरी में जहाँ श्रीगंगाजी बहती हैं, किश्तयों पर हर साल एक मेला होता है जहां रंडियाँ नचाई जाती हैं। उसमें राजा महाराजा सब शरीक होते हैं। लोग अपने छोटे छोटे बच्चों को साथ लेजा कर नाच दिखलाते हैं। स्कूलों और पाठशालाओं में छुट्टी रहती है। इस प्रकार बालकों में ब्रह्मचर्य के नाश करनेवाले विचार उत्पन्न किए जाते हैं। कभी कभी अंग्रेज अफसरों के सम्मानार्थ जो जलसे होते हैं उनमें भी नाच रहता है। अंग्रेज इसको पसंद नहीं करते परन्तु वे बेचारे यह समझ कर शरीक हो जाते हैं कि भारतवासी शायद खातिर इसी तरह करते हैं। अब वे इसे समझ गए हैं और, कई ऊँचे दर्जे के अंग्रेज नाच में आने से इनकार करते हैं।

नाचना, गाना दोनों अच्छी बातें हैं। भले घर की स्त्रियाँ भी गाती हैं परन्तु नाच का अद्भुत गुण केवल वारांगनाओं में पाया जाता है। गृहस्थ स्त्रियाँ भी यदि इसे सीखें तो क्या दोष है? क्या प्राचीन समय में ऐसा नहीं था? श्री० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने इस विषय में बड़ी मर्मभेदी बात कही है।

"मेरी सदा से यह सम्मति रही है कि जो आदमी नाचनेवाली स्त्रियों की धन से सहायता करता है वह अधर्म के

जीवन से जिसको वह खुल्लम खुल्ला स्वीकार करती हैं पूरी तरह से घृणा नहीं करता अथवा स्त्रियों के सतीत्व का जिसके कारण अन्य उत्कृष्ट गुण उत्पन्न होते हैं उतना आदर नहीं करता जितना उसको करना चाहिए। 'नाच' की प्रथा से मर्दों और स्त्रियों के धार्मिक जीवन पर हानिकारक प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। मैं बिना पुष्ट प्रमाण पाए हुए कभी उस पुरुष को अपनी स्त्री का सच्चा पति होने मे विश्वास नहीं कर सकता जो अपने यहाँ नाच कराता है या दूसरे के यहाँ नाच में शरीक होता है। अपने ही घर में नाच कराना मानों अपने कुटुंब के बालक और बालिकाओं को अधर्म की प्रत्यक्ष शिक्षा देना है, विशेष कर बालकों को। जबलों हम लोगों में नाच का फैशन रहेगा और लोग मनमाना इसमे शरीक होंगे यह असंभव है कि हमारे मर्दों में बहुत कुछ धार्मिक भाव बढे और स्त्रियों के आदर के भाव मे वृद्धि हो।"

मादक वस्तुओं के प्रयोग के निषेध पर कानफरेंस मे सदा बड़ा ज़ोर दिया जाता है। हमारे देश मे नशा पीना सदा से बुरा समझा जाता है। शराब पीने का रिवाज पहले यहाँ बिल्कुल नहीं था। समस्त जाति मदिरापान को चरित्र का दूषण और पाप का मार्ग समझती थी। यह हमारे जातीय जीवन को गौरव बढ़ानेवाली विशेषता थी। परंतु अब यह दोष बढ़ता जा रहा है। अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों मे विलायती शराब और अन्य लोगों मे देशी शराब पीना बढ़ रहा है। पहले जो कोई पीता भी था तो छिपा कर, अब खुल्लमखुल्ला बोतलें खाली की जाती हैं। मेलो में कलवरिया खोली जाती

हैं। गिरती हुई जाति विदेशियों के गुणों की ओर नहीं देखती उनकी बुराई को तुरत ग्रहण कर लेती है। अंग्रेजी जाति पर मदिरापान बड़ा भारी कलंक लगाता है। उनमें अनेक महानुभाव अब इसका घोर निरोध कर रहे हैं। उनमें से केन साहेब जो मेंबर पार्लामेंट थे और कलकत्ते की चौथी कानफरेंस में शरीक हुए थे चिरस्मरणीय रहेंगे। उन्होंने मदिरा प्रचार का विलायत में घोर विरोध किया था। इसके निमित्त *उन्होंने एक सभा स्थापित की थी जो अब तक चली जा रही है।* इस सभा की ओर से भारत में समय समय पर अनेक महानुभाव आते जाते रहते हैं जो प्रयत्न करते हैं कि सरकार भी इस बुराई को दूर करे। इस प्रकार की सभाएँ भारतवर्ष में भी हैं। इनमें से अमृतसर की सभा इस समय बड़ा काम कर रही है।

गाजा, भाग, चरस हमारे देश में बहुत से लोग पीते हैं। अफीम खानेवालों की भी बहुत संख्या है। थोड़े दिनों से कोकेन का प्रचार हो चला है। भाग तो भले आदमी भी पीना बुरा नहीं समझते। त्योहारों पर, शादियों में और कहीं कहीं प्रति दिन भाग पी जाती है। किसी किसी नगर में पिसी पिसाई भाग दूकानों पर मिलती है। छोटे छोटे बच्चों को चीनी, दूध, कसेरू आदि मिला कर भाग पिलाई जाती है। इस तरह उनका दिमाग खराब कर दिया जाता और चरित्र बिगाड़ा जाता है।

तबाकू तो इस देश में था ही अब चुरट चलने से लोग गली गली इसे पीते फिरते हैं। स्कूल के बच्चे भी चुरट पीते हुए मिलते हैं।

स्मरण रखने की बात है कि हमारे देश के अनेक मनुष्य-रत्न जो पार्लमेंट के सभासद होते, जिन्होंने हाईकोर्ट की जजी को सुशोभित किया, जो बड़े लाट की कौंसिल में सच्ची देशसेवा करते, नशे की बुराई में पड़ कर रोगग्रस्त और निरुद्यमी हो गए।

यहां यह लिख देना प्रसंग विरुद्ध न होगा कि रानडे ने कभी भी किसी मादक वस्तु का प्रयोग नहीं किया। अनेक सुधारक कहलानेवाले लोगों को इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए।

स्त्रियों में पर्दा।

इस देश के किसी भाग में पर्दा है और किसी में नहीं। एक ही स्थान की किसी जाति में पर्दा है और किसी में नहीं। कहीं स्त्रियों का सिर नंगा करके बाहर जाना बुरा नहीं समझा जाता, कहीं उनका पैर भी दिख जाना बुरा माना जाता है। बहुत से परिवार गरीबी की दशा में परदा नहीं करते परंतु धनाढ्य होने पर या लड़की के अमीर घराने में ब्याहे जाने पर परदा शुरु कर देते हैं।

अनेक परिवारों में नौकरों से परदा नहीं किया जाता परंतु घरवालों अथवा शुभचिंतक मित्रों के सामने स्त्रियाँ नहीं होतीं।)मेलों में, मंदिरों में, और घाटों पर परदा नहीं ... पड़ोसियों से परदा। कहीं स्त्रियाँ बिलकुल सामने ... और कहीं केवल घूँघुट काढ़ कर सामने से निकल ... जो कोई

... की ... शिक्षा रुकी हुई है और स्त्रियों का स्वास्थ्य

नहीं सुधरता। डाक्टर आर्थर लैंकेस्टर की सम्मति है कि पर्दा करनेवाली स्त्रियों में पर्दा न करनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा क्षय रोग से दूनी अथवा तिगुनी मृत्यु होती है। एक ओर तो हमारी स्त्रियाँ बाल्यावस्था ही में माताएँ हो जाती हैं दूसरी ओर उनके और उनके नवजात बच्चों को शुद्ध वायु भी *नहीं मिलती। इन कारणों से क्षय रोग की वे शिकार बन जाती* हैं। परदे के सबब से उनमें अपनी रक्षा करने का भाव नहीं उत्पन्न होता और वे यात्रा आदि में सदा निराश्रय और पराधीन बनी रहती हैं। स्त्रियों में परदे की प्रथा के कारण मर्दों में धार्मिक भाव उत्पन्न नहीं होता, जिन देशों अथवा प्रान्तों में *परदा नहीं है वहा के मर्दों का ध्यान राह चलती स्त्रियों की* तरफ नहीं जाता। यह अनुभव स्वय परदा करनेवाली स्त्रियों का है।

इस विषय पर कानफरेंस में स्वयं स्त्रियों ने अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिए हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि पहले स्त्रियों में शिक्षा प्रचार कर लेना चाहिए तब परदा तोड़ना चाहिए। यह उलटी बात है। शिक्षा प्रचार उस समय तक पूरी तरह से हो ही नहीं सकता जबतक परदा न टूटेगा। परदा शिक्षा प्रचार में बहुत बड़ा बाधक है। जिन जातियों में परदा कम है उनमें शिक्षित स्त्रियों की सख्या अधिक है। परदा तोड़ने के कई उपाय हैं। परदा न करनेवाली शिक्षित स्त्रियों से मिलना जुलना, ससुर, जेठ आदि के सामने परदा न करना, पिता और पति के शुभचिंतक कुटुंबी मित्रों के सामने जाना, ऐसी सभाओं में जाना जिनमें स्त्रियाँ जाती

दों इत्यादि। इसी प्रकार धीरे धीरे परदा कम हो सकता है।

ज्यों ज्यों देशहितकर कामों में स्त्रियाँ योग देती जाँयगी परदा कम होता जायगा। प्रदर्शनियों, तीर्थस्थानों और पर्वतस्थ नगरों (शिमला, मसूरी आदि) में वज्र पर्दा करनेवाले कुटुंब के लोग भी पर्दा छोड़ देते हैं। कानफरेंस के दर्शकों में स्त्रियों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। महिला परिषद ने भी परदा तोड़ने में सहायता की है। मुसलमानों में भी परदे का विरोध आगाखां आदि नेता लोग करने लग गए हैं।

जाति पाति।

कानफरेंस में इसके संबंध में अनेक रूप में प्रस्ताव उपस्थित होते आए हैं। जिस बात पर अधिक जोर दिया जाता है वह यह है कि भिन्न भिन्न जातियों में जो उप-जातियाँ बन गई हैं उनको मिल जाना चाहिए। मुख्य चार जातियों के अंतर्गत की अवांतर जातियाँ एक हो जानी चाहिएँ। ब्राह्मण ब्राह्मण में भोजन और विवाह होना चाहिए यही बात अन्य जातियों में भी होनी चाहिए। वर्त्तमान अवस्था यह है कि ब्राह्मण और अन्य जातियाँ अनेक उप-जातियों में विभाजित हैं। फिर प्रत्येक उप-जाति में विशेष उपजातियाँ हैं और सब अपने को बड़ा समझती हैं। न केवल एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण के घर विवाह नहीं कर सकता बल्कि एक सारस्वत ब्राह्मण दूसरे सारस्वत ब्राह्मण के घर भी विवाह नहीं कर सकता। यही हाल औरों का है। विवाह की सीमा इतनी परिमार्जित है कि निकटस्थ रिश्तेदारों में भी विवाह होने लग गए हैं।

यह प्रथा जातीय शुद्धि के सिद्धांतों के विपरीत है। परन्तु इस सबंध में बड़ी कठिनाई यह है कि यदि एक उप जाति के मर्द का विवाह दूसरी उप जाति की स्त्री से हो जाय तो उनकी औलाद कानून से पैतृक सपत्ति नहीं पा सकती। क्योंकि यह विवाह कानून की दृष्टि मे अनुचित समझा जायगा। इसी कारण ब्राह्म-समाजियों और सिक्खों ने अपने विवाह का कानून ही बदलवा दिया है। इस समय यदि कोई मर्द दूसरे जाति की स्त्री से विवाह करना चाहे तो दोनों को यह कहकर विवाह करना पड़ेगा कि हम हिंदू नहीं हैं। इस प्रकार यह हिंदू जाति जिसके प्राचीन इतिहास मे विवाह सबंधी स्वत त्रता के अनेक उदाहरण मिलते हैं उन्नत लोगों को बाध्य करती है कि वे अपने को हिंदुओं के दल से बाहर कह कर विवाह करें। भिन्न भिन्न धर्मों के माननेवालों में विवाह का उदाहरण अब भी मिलता है। वैश्यों मे जैनियों और हिंदुओं म विवाह होता है। श्री० भूपेंद्र नाथ बसू ने १९१२ में बड़े लाट की कौंसिल में यह प्रस्ताव पेश किया था कि माता पिता के विवाह की स्वतत्रता के कारण औलाद को पैत्रिक सपत्ति प्राप्त करने में बाधा नहीं होनी चाहिए। इस प्रस्ताव पर एक ओर घोर विरोध हुआ तो दूसरी ओर ऐसे ऐसे लोगों ने इसके सिद्धांत और इसकी आवश्यकता को स्वीकार किया कि जिनके धार्मिक विचार शुद्ध हिंदू थे। परंतु यह कानून पास नहीं हुआ।

जाति के कारण लोग एक दूसरे का पका हुआ भोजन नहीं कर सकते। सबसे उत्तम यही समझा जाता है जो

अपनी पकाई रोटी खाय। ब्राह्मण ब्राह्मण आपस में नहीं खा सकते। शूद्र कहलानेवालों में भी कई ऐसे हैं जो ब्राह्मण के हाथ का पका भी नहीं खाते। भोजन में कच्ची और पक्की का भेद माना जाता है। बहुत से लोग हलवाई के यहां से पूरी खा लेंगे परंतु रोटी अपनी बिरादरीवाले के ही हाथ की खाँयगे। परंतु इस संबंध में भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न रिवाज़ हैं। पंजाब में कच्ची पक्की का भेद नहीं माना जाता। प्रायः लोग हिंदू मात्र का छूआ हुआ खाते हैं, एक घर की पकी रोटी दूसरे घर ले जाकर खा सकते हैं। उत्तरीय भारत के पश्चिमी ज़िलों मे अक्सर एक ही फ़र्श पर मुसलमानादि के बैठे रहने पर हिंदू लोग पानी पी लेना बुरा नहीं समझते, कई नगरों में दूकानों पर दाल रोटी बिकती है। ये सब बातें रिवाज़ की हैं। १८५७ के विप्लव से पूर्व दिल्ली में हिंदुओं के घर में भी मुसलमान मश्क से पानी देते थे, केवल बरतनों को नहीं छूते थे।

छूत छात माननेवालों को यात्रा में सदैव कष्ट होता है। ताज़ा खाना नहीं मिलता। पूरियाँ खानेवाले लोग बीमार पड़ जाते हैं। इसी कारण उनमें देश देशांतर जाने का हौसला कम होता है। भिन्न भिन्न जातियों के रिवाज़ में भिन्नता है। इस संबंध में रेल द्वारा बड़ा परिवर्तन हुआ है। अब शिक्षित समाज में बहुधा एक दूसरे के साथ बैठ कर खाना बुरा नहीं समझा जाता। सोशल-कानफरेंस मे इस विषय पर बराबर प्रस्ताव पास होते हैं। कई वर्षों से कानफरेंस के साथ एक भोज होता है जिसमें भिन्न भिन्न जाति

के हिंदू एक साथ बैठ कर खाते हैं। बबई में इस बात पर बडा जोर दिया जाता है। उन भोजों में शरीक होने के कारण बहुत से लोग शुरू में अजाति किए गए थे। हर्ष का विषय है कि उच्च श्रेणी के सुधारकों में निरामिष भोजियों की सख्या बढ़ रही है। कानफरेंस के साथ जो भोज होते हैं उनमें मासादि नहीं रहता।

इस सबध मे कायस्थों का उद्योग प्रशसनीय है। बगाली और सयुक्त प्रातादि के कायस्थ आपस मे कानफरेंस के समय मिलते हैं, उनमें सहभोज भी शुरू हो गया है। उपजातियों में विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं।

रानडे एक ही कमरे म अंग्रेजों और ईसाइयों के साथ खाना बुरा नहीं समझते थे। केवल उनसे दूर बैठते थे। रमाबाई के लेख से मालूम होता है कि १८९२ में जब वे पूना के पचहौद मिशन मे शरीक होने के कारण जाति से बाहर किए गए थे, जिसका उल्लेख आगे आयगा, तब उन्होंने चाय नहीं पी थी। कचहरी मे भी उनका भोजन ब्राह्मण लेकर जाता था। इसके आगे वे नहीं बढ़े थे। गोखले सब जाति के भारतवासियों और अन्य देश के लोगों के साथ निरामिष भोजन करते थे। मद्रास मे सहभोज की प्रणाली बढती जाती है। जिस जाति में छूत छात के बधन अधिक हैं उसमें चोरी से सहभोज करनेवालों की सख्या अधिक है परतु पजाब आदि प्रातों में ऐसे लोग हैं ही नहीं। इस सुधार के सबध में यह लिख देना आवश्यक है कि वे लोग सुधारक कहे जाने के योग्य नहीं हैं जो जूठा खा कर या मास मदिरा आदि का

प्रयोग करके अपने को सुधारक समझते हैं। उन्होंने सुधार के तत्व को नहीं समझा और उनके कर्तव्य अत्यंत निंदनीय हैं। उनसे भी बुरे वे लोग हैं जो छिप कर सबके साथ सब पदार्थ खाते हैं और अपने को सुधारक और शिक्षित लोगों में अग्रगण्य समझते हैं। खेद तो यह है कि उन लोगों की करतूत मालूम होने पर भी उनके घर ब्राह्मण लोग भोजन करते हैं और बिरादरी उनको अजाति नहीं करती परंतु जो लोग सचाई को नहीं छोड़ते वे तुरंत अलग कर दिए जाते हैं।

हिंदुओं की अनेक जातियों में अब स्वाभिमान बढ़ रहा है। कायस्थ क्षत्री होने के, भूमिहार ब्राह्मण होने के शास्त्रोक्त और ऐतिहासिक प्रमाण देते हैं। इसी प्रकार कुनबी, तेली आदि जातियों में नवजीवन का संचार हो रहा है। और क्यों न हों? इनके विचारों की पुष्टि शास्त्र के प्रमाण और पंडितों की व्यवस्था से भी होती है।

इस प्रकार समाज संशोधन देश की पृथक् पृथक् जातियों को प्रेम और स्नेह के तंतु से बांध कर एकता का कारण बन रहा है। अब तक जाति के बंधन अनेक सुधारों में बाधा डालते चले आए हैं। इन्हीं के कारण अछूत जाति का सुधार रुका हुआ है, समुद्रयात्रा में कठिनाइयाँ पड़ती हैं, विवाहादि मे सुयोग्य वर कन्या नहीं मिलते, विधवाओं की अवस्था नहीं सुधरती, निर्भय, स्पष्टवक्ता और स्वतंत्र लोग नहीं उत्पन्न होते और हिंदू जाति से फूट नहीं हटती।

जाति का सुधार सब सुधारों की जड़ है।

कानफरेंस की फुटकर बातें।

इन बड़े बड़े विषयों के अतिरिक्त कानफरेंस में अन्य विषयों पर भी विचार होता आया है जिनका उल्लेख मात्र कर देना पर्याप्त है।

१—दान का सुधार। इस संबंध में कई बेर क़ानून बनाने के प्रस्ताव पेश हुए। डाक्टर रासबिहारी घोष ने इसके लिये कौंसिल में उद्योग किया था पर सफलता नहीं हुई। मठ, मंदिर, धर्मशाला, अन्नसत्र आदि सर्व साधारण के लिये हैं। उनका प्रबंध उस धर्म के माननेवालों के प्रतिनिधियों की कमेटियों द्वारा किए जाने से जिनके लिए वे बने हैं, दान की प्रणाली के सुधर जाने की पूर्ण आशा है।

२—बुड्ढों का छोटी बालिकाओं से विवाह।

३—बहु विवाह। यह बंगाल में पहले बहुत था। एक कुलीन ब्राह्मण की सौ तक स्त्रियाँ हो सकती थीं। अब यह बुराई कम है। परंतु इसके विरुद्ध कोई कानून नहीं है। अमेरिका, दक्षिणी अफ्रिका आदि स्थानों में हिंदुस्तानियों के साथ अन्य बातों के अतिरिक्त, यह दोष लगा कर बुरा बर्ताव होता है कि इनमें बहु विवाह का रिवाज है।

४—विवाहादि संस्कारों में अपव्यय।

५—स्त्रियों में सियापे का रवाज।

६—हिंदु मुसलमानों के झगड़े दूर करने के उपाय।

७—अनाथों की रक्षा के उपाय।

८—स्कूलों में धार्मिक और चरित्र सुधार संबंधी शिक्षा की आवश्यकता।

९— विवाह में दहेज लेने की रस्म।

१०—मद्रास की आठवीं कानफरेंस में एक प्रस्ताव इस विषय पर पास हुआ था कि देशसेवा करनेवालों का प्राइवेट जीवन शुद्ध और पवित्र होना चाहिए, विशेष कर समाज सुधार चाहनेवाली सभाओं के सदस्यों का।

११—हिंदू पत्रों के संशोधन की आवश्यकता।

अनेक अधिवेशनों में इस विषय पर विचार किया गया था कि कानफरेंस के चलाने और उन्नति के लिये एक कोष होना चाहिए। रानडे की मृत्यू के उपरांत १९०२ में अहमदाबाद के सोलहवें अधिवेशन में रानडे का स्मारक स्वरूप समाज-संशोधन संबंधी कोष स्थापित करना निश्चय हुआ था। उस वर्ष की रिपोर्ट में इस कोष में दान देनेवालों के नाम भी छपे हैं जिनमें ६ आदमियों ने १५००), चार ने एक हज़ार और तीन ने छोटी छोटी रक़मे दी थीं। परंतु इस कोष संबंधी समाचार आगे की रिपोर्टों से नहीं लगता।

कानफरेंस में पहले व्याख्यान प्रायः अँग्रेज़ी में हुआ करते थे परंतु अब अधिकांश वक्ता प्रांतिक भाषाओं में वक्तृता देते हैं।

कानफरेंस में शरीक होनेवालों में प्रसिद्ध पुरुषों के नाम।

कानफरेंस के प्रत्येक अधिवेशन के सभापति के नाम लिखे जा चुके हैं। उनके अतिरिक्त महाराजा सयाजीराव गायकवार, युवराज मैसोर, रावबहादुर आर० एन० मुधोलकर,

जस्टिस मुदरम् अय्यर, श्री० दयाराम गीडूमल, श्री० कृष्ण-स्वामी अय्यर, श्री० विजयराघवाचार्य्य, श्री० प्रतापचन्द्र मजुमदार, रायबहादुर मी० एल० भट्ट, श्री० चारुचद्र मित्र, श्री० सुरेंद्रनाथ बैनरजी, श्री० गोपाल कृष्ण गोखले, रायबहादुर आनंदाचार्लू, श्री० भूपेंद्रनाथ वसु, प० बिशन नारायण दर, श्री० आनंद मोहन बोस, श्री० अलीमहम्मद भीमजी, प० शिवनाथ शास्त्री, राव बहादुर सभापति मुदिलियर, श्री० रघुनाथ पुरुषोत्तम पराजपे, महात्मा हंसराज, श्री० लाजपतराय, महात्मा मुंशीराम, राव बहादुर रूचीराम साहनी, श्री० अनिका चरण मजमदार, लाला रोशनलाल, श्री० नाटराजन, श्री० सी० वाई० चिंतामणि, श्री० जी० एन० भाजेकर, श्री० विपिनचद्र पाल, श्री० सच्चिदानंद सिंह, रावबहादुर कोल्हटकर, श्री० सुब्रह्मण्य अय्यर रायबहादुर मुंशी गंगाप्रसाद वर्म्मा, श्री० एन० एन० घोष, स्वामी नित्यानंद, प० रामभजदत्त चौधरी, रावबहादुर सी० वी० वैद्य, डाक्टर तेज बहादुर सप्रू, डाक्टर सतीशचद्र बैनरजी, प० मदनमोहन मालवीय, श्री० बाल गंगाधर तिलक, श्री० गाधीजी आदि महानुभाव समय समय पर कानफरेंस में शरीक हुए हैं। इस सूची मे केवल उन लोगों के नाम दिए गए हैं जिन्होंने अन्य प्रकार की देशसेवा के लिये भी प्रसिद्धि पाई है।

यहा यह लिख देना आवश्यक है कि पडित बाल गंगाधर तिलक जो पहले विधवा विवाह आदि विषयों पर भी कानफरेंस का साथ देते थे, पीछे उसकी कार्य प्रणाली के विरोधी हो गए।

रानडे का यह नियम था कि कानफरेंस के प्रत्येक अधिवशन के पहले समाज सुधार सबंधी जितनी सभा, और समाज

भिन्न भिन्न प्रांतों में थीं उनका संक्षिप्त कार्यविवरण मँगवा कर उसको कानफरेंस की रिपोर्ट में छपवा देते थे। उनके समय में प्रत्येक प्रांत से कानफरेंस का एक प्रांतिक मंत्री भी चुना जाता था। उन मंत्रियों द्वारा विरादरियों के सम्मेलन के विवरण, विधवा विवाहादि सुधार के उदाहरण, कन्या पाठशालाओं की संख्या आदि की सूचना मिलती रहती थीं। ये सब कानफरेंस की रिपोर्ट के बहुमूल्य अंग थे। उनके पढ़ने से समस्त देश की सामाजिक जागृति का परिचय मिलता था। छोटी छोटी घटनाओं को भी प्रकाशित करना रानडे आवश्यक समझते थे। ऐसा करने से कार्यकर्ताओं का उत्साह भी बढ़ता था।

महिला परिषद्।

१९०४ से जब बंबई में १८ वीं कानफरेंस हुई थी महिला परिषद् स्थापित हुई। इसमें प्रधान का आसन रमाबाई रानडे ने ग्रहण किया था। १९०५ में काशी में प्रतापगढ़ की रानी रामप्रिया ने और १९०६ में कलकत्ते में महारानी बड़ोदा ने प्रधान का आसन ग्रहण किया था। जिस प्रकार कानफरेंस में समाज संशोधन संबंधी विषयों पर विचार होता है उसी प्रकार इसमें स्त्रियों के सुधार संबंधी विषयों पर व्याख्यान होते हैं। इसमें केवल स्त्रियाँ ही शरीक होती हैं। इसके अधिवेशन अब बड़े समारोह से होते हैं और प्रत्येक प्रांत से विदुषी स्त्रियाँ इसमें आकर शरीक होती हैं। पहले मर्द लोग अकेले कांग्रेस और कानफरेंस में जाया करते

थे, अब वे अपने घर की महिलाओं को भी साथ ले जाते हैं। इसके कारण स्त्रीसमाज में विशेष प्रकार से जागृति हुई है।

महिला परिषद् को कानफरेंस की शाखा समझना चाहिए। परन्तु खेद का विषय है कि किसी किसी वर्ष इसका अधिवेशन नहीं किया जाता।

कानफरेंस में रानडे के व्याख्यान और उनके विचार।

रानडे प्रत्येक कानफरेंस में बराबर व्याख्यान देते थे। पहले कई वर्ष के अधिवेशनों में वे किसी विषय पर प्रस्ताव उपस्थित करते समय कुछ कह दिया करते थे परन्तु पीछे से उन्होंने लंबे प्रारंभिक व्याख्यान देने आरंभ कर दिए थे। ये बड़े विचारपूर्ण, विचार-उत्तेजक और सामयिक होते थे, जैसा कि निम्नलिखित विषय सूची से प्रतीत होगा।

ग्यारहवीं कानफरेंस (अमरावती), "पुनरुज्जीवन और सुधार"

बारहवीं कानफरेंस (मद्रास) "एक शताब्दी पूर्व दक्षिणी भारत"

तेरहवीं कानफरेंस (लखनऊ), "भारत एक सहस्र वर्ष पूर्व" इसी व्याख्यान का दूसरा शीर्षक "न मैं हिंदू हूँ न मुसलमान"

चौदहवीं कानफरेंस (लाहौर) "वसिष्ठ और विश्वामित्र"।

इन व्याख्यानों के अतिरिक्त सोशल कानफरेंस के उद्देश्यों पर उन्होंने जो व्याख्यान प्रयाग के दूसरे अधिवेशन में दिया था वह महत्त्व का है। इसी विषय पर नागपुर में पाचवें

अधिवेशन के समय भी वे बोले थे।

प्रयाग के छठें अधिवेशन में "सामाजिक विकास", लाहोर के सातवे अधिवेशन में "सामाजिक उन्नति की सच्ची कसोटी" और अन्य अधिवेशनों मे उस वर्ष के सुधार के इतिहास अथवा सुधार के प्राचीन इतिहास संबंधी व्याख्यान, पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

कानफरेंस के उद्देश्यों के संबंध में उनका विचार यह था कि यह किसी प्रकार की कार्यकर्तृ संस्था नहीं है। इसका उद्देश्य केवल सुधार संबंधी जागृति पैदा करना है। वे कहते थे कि जिस प्रांत में कानफरेंस होती है वहाँ के लोग सुधार संबंधी विषयों पर सोचने लगते हैं। उनमें से जिनमें देश-सेवा का भाव अधिक रहता है वे कोई संस्था खोल कर या अपने कर्तव्यों द्वारा सब प्रकार के सुधार अथवा किसी विशेष सुधार की चरचा फैलाने लगते हैं। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कानफरेंस—आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, देव समाज, सनातन धर्म सभाओं और अन्य संस्थाओ से सहायता लेने में संकोच नहीं करती। इन संस्थाओं के धार्मिक सिद्धातो से कानफरेंस मे कोई संबंध नहीं। ःनडे के सफलता का कारण यही था कि उन्होंने सामाजिक सुधार को धर्म अथवा मतमतांतर से अलग रखा। रानडे का विश्वास था कि सुधार अवश्य होगा। शिक्षा प्रचार, वर्तमान समय की अवस्था और अन्य कारणो से अब सुधार रुक नहीं सकता। अंग्रेजी राज्य को यह सुधार का सहायक समझते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि अंग्रेज न केवल हमारे राजा हैं बल्कि

हमारे पथ प्रदर्शक हैं। सरकारी क़ानून की सहायता से कुरीतियों को दूर करने के वे पक्षपाती थे। इस विषय पर उनका एक लेख 'State Legislation in social matters" बड़े महत्व का है। उनका मत था कि राजनैतिक कारणों से हमारे देश ने अनेक कुरीतियों को ग्रहण किया। फिर उन्हीं कारणों को सुधार का साधन बनाने में क्या हर्ज है। अंग्रेजी राज्य के आरंभ काल के शासक भारत की सामाजिक उन्नति में पूरी सहायता देते थे। सती की चाल कानून से दूर की गई, विधवा विवाह के संबंध में क़ानून बना, भिन्न भिन्न जाति के लोगों में जो मतमतांतर के बंधन से रहित हैं विवाह करने के लिये कानून बना। संभोग सम्मति के कानून के बाद सरकार ने कोई सामाजिक सुधार का कानून नहीं बनाया। जब कभी कोई कानून कौंसिल में पेश भी हुआ सरकारी सभासदों की नहूं सम्मति से वह पास नहीं हुआ। इसके विपरीत देशी रियासतों में बाल्यविवाहादि के विरुद्ध क़ानून बनते आते हैं।

बहुधा यह प्रश्न उठता है कि सुधार अच्छा अथवा पुनरुज्जीवन। इस विषय पर रानडे ने अपने अमरावती के व्याख्यान में अन्य बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित ओजपूर्ण वाक्य कहे थे—

"हम किन रीतियों को पुनर्जीवित करें? क्या हम अपने उस समय के पुरुषाओं की चाल को पुनरुज्जीवित करेंगे जब हम लोगों की सब से पवित्र जाति ने मांस और मदिरा के व्यसनों में पड़ कर देश के किसी प्रकार के जीव और वनस्पति को नहीं छोड़ा था, जिसको हम लोग आज कल बुरा समझते हैं? उस समय के मनुष्य और देवता हम

प्रकार निषिद्ध वस्तुओं को खाते पीते थे कि कोई भी प्राचीन बातों को पुनरुज्जीवित करनेवाला इस समय उनके प्रचार की व्यवस्था देने का साहस न करेगा । क्या हम पुत्रों के बारह और विवाह के आठ प्रकारों को जिनमें से असुर और गांधर्व विवाह भी हैं पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम विधवा भौजाई से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की प्रथा को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम ऋषियों और ऋषीपत्नियों के वैवाहिक जीवन की स्वतंत्रता को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम उन यज्ञों को जो वर्ष प्रति वर्ष हुआ करते थे और जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, पशुओं की बात ही क्या, नरबली तक हुआ करती थी पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम वाम मार्ग के अश्लील और कुकर्म-मय शक्तिपूजन को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम सती, बच्चों के मार डालने, जीवित मनुष्यों को नदियों मे या चट्टानों पर फेंक देने, या चरक या श्री जगन्नाथ के रथ के नीचे दबने की प्रथाओं को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम ब्राह्मणों और क्षत्रियों के आंतरिक झगड़ों को अथवा दस्युओं के साथ निर्दय व्यवहार और उनको पद-दलित करना फिर से जारी करेंगे ? क्या हम बहु–पत्नी और बहु–पति की प्रथा को फिर से चलाएँगे ? क्या हम ब्राह्मणों को जमींदार और धनिक बनने से रोकेंगे और प्राचीन समय की नाईं उनको भिक्खारी और राजाश्रित बना देंगे ? इन उदाहरणों से भली भाँति मालूम हो जायगा कि प्राचीन रीति और रस्मों के पुनरुज्जीवित करने से देश की मुक्ति नहीं होगी और न यह कार्यक्रम में लाया जा सकता है ”।

रानडे के इन वाक्यों से बहुधा लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि वे नवीन अंग्रेजी ख्यालात के भारतवासी थे जो प्राचीन बातों को बुरा समझते हैं। परन्तु यह भ्रम मात्र है। वे सच्चे प्राचीनाभिमानी थे। "प्राचीन" शब्द के अंतर्गत व सौ दो सौ वर्ष पहले की अवस्था को नहीं मानते थे। वे कहते थे कि बिगड़ी अवस्था को सुधारना आवश्यक है। केवल पुनरुज्जीवन से काम नहीं चलेगा। समाज जीवधारियों का समूह है। वह एक स्थान पर सदा नहीं रह सकता। सुधारकों में दो दल के लोग हैं। एक कहते हैं कि जो कुछ शास्त्रों के अनुसार हो वही ठीक सुधार है। यह जातीयता की नींव पर सुधार का गृह निर्माण करना चाहते हैं। दूसरे यह चाहते हैं कि जो कुछ युक्तियुक्त हो वही ग्राह्य है अन्यथा सब व्यर्थ और अनावश्यक है। परंतु इन दोनों दलों की विभिन्नता निर्मूल है। शास्त्र भी युक्ति पर निर्भर हैं। यदि ऐसा न होता तो शास्त्रों में जिसको परस्पर विरोध कहते हैं, न होता। समयानुसार ऋषिगण सिद्धांतों में आवश्यक परिवर्तन किया करते थे। इस लिये शास्त्रों के प्रति भारत-जनता में जो श्रद्धा मौजूद है उसको सुधार का सहायक बनाना चाहिए। शास्त्र के भरोसे सुधार से प्रीति करनेवालों में दृढ़ता और साहस के उदाहरण अधिक मिलते हैं। अंग्रेजी ढग के सुधारक केवल पोशाक और रहन सहन बदलने मात्र को पर्याप्त समझते हैं। रानडे के सुधार संबंधी विचारों का गौरव निम्नलिखित पंक्तियों से जो भिन्न भिन्न व्याख्यानों से उद्धृत की गई हैं प्रगट हो जायगा—

(१) "इस महान देश का इतिहास केवल परियों की कथा मात्र है यदि इस से इस बात का प्रमाण न मिले कि बाहर के प्रत्येक आक्रमण ने यहाँ की ईश्वर-रक्षित जाति में तपस्या और तप का काम किया जिससे वह धीरे धीरे उच्च आदर्श की ओर उन्नत हुई। यह आदर्श कर्तव्य रूप में प्रगट नहीं हुआ परंतु छिपी हुई शक्तियों के विकास में। जाति में कभी ऐसी उत्साह-हीनता उत्पन्न नहीं हुई कि वह सब शुभ आशाओं को तिलांजलि दे दे। थोड़े दिनों के लिये विदेशी आक्रमणों के प्रभाव में डूब कर वह फिर अपना सिर ऊँचा कर लेती और विदेशी सभ्यता, धर्म और नीति से जो कुछ अति उत्तम होता उसको स्वीकार कर लेती।" (१८९२ का व्याख्यान)

(२) "इस आंतरिक स्वतंत्रता में हमें क्या करना है। मैं उत्तर दूंगा कि जिस विकास की हम मनोकामना कर रहे हैं वह परिवर्तन है, बंधन से स्वतंत्रता में—वह बंधन जिसे हमारे दुर्बल स्वभाव ने हमारी उच्च शक्तियों की स्वतंत्रता पर डाला है। यह परिवर्तन मिथ्या विश्वास से भक्ति की ओर है—मिथ्या विश्वास से जो बिना सोंचे बात मान लेता है, भक्ति की ओर जो प्रबल नींव पर भवन बनाती है। जीवन में हमारी स्थिति, हमारा धर्म और हमारे कर्मों की सीमा निःसंदेह बहुत कुछ उस अवस्था पर निर्भर है जिस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है तिसपर भी हमारे कार्यों में स्वतंत्रता की मात्रा बहुत है। हम जान बूझ कर इस मात्रा को घटा देते हैं, अपने को हथकड़ियों से बाँध देते

हैं और उस पर घमंड करते हैं, जिस प्रकार बंबई का वह मुसलमान फकीर जो भारी ज़ंजीरों से अपने को बाँध कर समझता है कि मैं पहुँचा हुआ फकीर हूं। जिस प्रकार के परिवर्तन की हमें इच्छा करनी चाहिए वह बंधन से स्वतंत्रता, मिथ्या विश्वास से भक्ति, अचल अवस्था से उद्योग, विश्वास से मुक्ति, प्रशामित जीवन से संगठित जीवन, स्वमताग्रह से उदार विचार, भाग्य में अंध-विश्वास से मानुषीय गौरव के सद्भाव की ओर होना चाहिए। सामाजिक विकास का स यही अर्थ लगाता हूं और यह इस देश के व्यक्तियों और संस्थाओं दोनों पर घटता है"। (१८९२ का व्याख्यान।)

(३) "प्राचीन काल से हम बिल्कुल अलग नहीं हो सकते। अपनी प्राचीनता के भाव से हमें दूर होना भी नहीं चाहिए क्योंकि यह बहुमूल्य सपत्ति है और इससे हमको लज्जित होने का कोई कारण भी नहीं है"। (१८९२ का व्याख्यान।)

(४) "मुझे अपने धर्म के दो नियमों में दृढ़ विश्वास है। यह हमारा देश भविष्य में सचमुच ही स्वर्ग होगा। यह हमारी जाति ईश्वर-रक्षित जाति है। परमेश्वर ने व्यर्थ इस प्राचीन आर्यावर्त देश पर अपने उपकारों की बौछार नहीं की है। हम भगवान के दर्शन अपने इतिहास के पृष्ठों में करते हैं। अन्य देशों से बढ़कर हमने ऐसी सभ्यता, ऐसा धर्म और ऐसी सामाजिक नीति अपने पुरुखाओं से पाई है जिन्होंने संसार के कार्यक्षेत्र में वर्षों तक बे रोकटोक वृद्धि प्राप्त की। यहाँ कोई विप्लव नहीं हुए परंतु समयानुसार पुरानी अवस्था

में धीरे धीरे सुधार होता रहा।" (१८९३ का व्याख्यान ।)

(५) "बहुत से लोग समझते हैं कि इस जर्जरित हिंदू जाति से अलग ही होकर अपनी रक्षा करना परम कर्तव्य है। मैं इस विचार का विरोध ३० वर्ष से कर रहा हूँ और जब तक मुझमें जीवन है और जब तक मेरी भाषणशक्ति मुझे बोलने देगी मैं इसका विरोध करूंगा। हिंदू-समाज क्षीण और भ्रष्ट अवस्था में नहीं है। यह निःसंदेह नवीन बातों का विरोध करती है परंतु यह अवगुण नहीं है वरंच गुण है। कोई जाति जो अपना मत, अपनी रीति, अपनी रहन सहन जिस प्रकार "फ़ैशन" बदलता है बदलती रहती है, वह इतिहास मे स्थान नहीं पा सकती। परंतु इस अवस्था ने नवीन विचारों के प्रादुर्भाव और नवीन रीतियों के प्रचार को कभी नहीं रोका।" (१८९३ का व्याख्यान ।)

इन विचारों से भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि रानडे पुनरुज्जीवन के विपक्षी इस कारण न थे कि उनको भारत के प्राचीन इतिहास मे विश्वास नहीं था। सच्चे सुधारक वे ही हैं जो नवीन अवस्था के अनुसार, जातीयता और समाज की अभिरुचि को दृष्टि में रखकर अपने जीवन द्वारा देश में उदाहरण बनते हैं। रानडे ऐसे ही महानुभाव थे। प्रौढ मस्तिष्क, पवित्र जीवन, नम्र स्वभाव, सूक्ष्म दृष्टि आदि गुणों का एक ही मनुष्य में मिलना विरले ही होता है। जिसमे ये गुण हों उसका जीवन धन्य है।

---

(९) रानडे के राजनैतिक विचार और उनका प्रभाव।

रानडे सरकारी नौकर थे। सरकारी नौकर राजनैतिक संस्थाओं में शरीक नहीं हो सकते और न ऐसे विषयों पर साधारणत. अपनी सम्मति दे सकते हैं। पर यह सभव नहीं था कि रानडे ऐसा देशहितैषी, देश देशांतरों के इतिहास का जाननेवाला भारत की राजनैनिक अवस्था के सुधार के काम से दूर रहता। उनके समय में सरकारी नियम भी कठिन नहीं थे इसलिये सरकारी नौकर भी थोड़ा बहुत राजनैतिक कार्य करते थे। रानडे *पूना सार्वजनिक सभा* का सब काम करते थे। यह बात सरकार पर प्रगट भी थी।

रानडे के राजनैतिक विचार प्राय वेही थे जो आज कल कांगरेस के हैं। कांगरेस की नींव डालनेवालों में उनका भी नाम गिना जाता है। कांगरेस के *प्रथम अधिवेशन में* वे शरीक भी हुए थे। यों तो वे प्राय हर एक अधिवेशन में जाते थे और विषय निर्धारित करनेवाली समिति में अपनी *सलाह भी दिया करते थे परंतु पहली कांगरेस* के अतिरिक्त किसीमें उन्होंने व्याख्यान नहीं दिया।

पहली कांग्रेस बंबई में सन १८८५ में हुई थी। उस समय बहुत से सरकारी नौकर उसमें उपस्थित हुए थे। दूसरे दिन (२९ दिसंबर) के अधिवेशन में यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि सेक्रेटरी आफ स्टेट की कौंसिल तोड दी जाय। इस पर कई व्याख्यान हुए। कुछ मतभेद भी

हुआ। अधिक लोग तोड़ने ही के पक्ष में थे। एक महाशय ने सलाह दी कि इस कौंसिल में जनता की ओर से सभासद चुना जाया करे। इसी विषय पर रानडे ने एक छोटी वक्तृता दी थी जिसका सारांश यह था।

"कांगरेस को चाहिए कि इस विषय पर एक स्कीम पेश करे। प्रस्ताव में मतभेद का उल्लेख होना पर्याप्त नहीं है। यदि सेक्रेटरी आफ़ स्टेट की कौसिल टूट जायगी तो उनको किसी न किसी प्रकार की सभा बनानी ही पड़ेगी, नहीं तो विलायत के सेना-विभाग और कोष-विभाग के सामने उनकी कुछ न चलेगी। टैक्स कम करने, अखबारों को स्वतंत्रता देने, सारे भारत मे बंदोबस्त इस्तमरारी जारी करने, सेना के व्यय इत्यादि विषयों पर विचार करने मे सेक्रेटरी आफ स्टेट की सहायतार्थ एक सुगठित कौंसिल का होना आवश्यक है। उन्होंने फाक्स और पिट के इंडिया बिल्स का हवाला देकर कहा कि उचित यही होगा कि कांगरेस् प्रस्ताव करे कि इस कौंसिल के कुछ सभासद चुने जाया करे और कुछ सरकार नियुक्त करे।"

तीसरे दिन (३० दिसंबर को) रानडे के विचारों का उत्तर उनके प्रसिद्ध और परम भक्त शिष्य काशीनाथ त्रिंबक तैलंग ने दिया था और अंत में यही प्रस्ताव पास हुआ कि कौंसिल तोड़ दी जाय।

१८८५ में भारतवासियों की राजनैतिक अवस्था विलायत के सर्वसाधारण पर विदित करने के लिये श्री मनमोहन घोष प्रभृति कुछ प्रसिद्ध भारतवासी विलायत गए थे। वहाँ वितरण

करने के लिये कुछ छोटी पुस्तकें भी लिखी गई थीं, उनमे से "India's appeal to the English electors" नाम की पुस्तक का बहुत सा अंश रानडे का लिखा हुआ था।

१८९२ में आनद चार्ल्स कांग्रेस के मन्त्री थे। वे चाहते थे कि इस काम को छोड़ दें परन्तु रानडे ने उनसे कहा कि मैं अगले वर्ष सरकारी नौकरी छोड़ कर कांगरेस के मन्त्री का काम करूँगा। एक वर्ष आप और निभा दीजिए। आनद चार्ल्स ने मान लिया पर दूसरे वर्ष रानडे हाईकोर्ट के जज बना दिए गए। फिर आगे चलकर पेंशन लेने की नौबत ही न आई।

कांगरेस का नाम बडा है पर काम वैसा नहीं। साल भर में ३ दिन मिल बैठने से जागृति तो होती है परन्तु फिर नींद आ जाती है। यदि रानडे उसके मन्त्री हुए होते तो कांगरेस का इतिहास दूसरा होता। प्रत्येक प्रांत में वे घूमते, आपस के झगडे लड़ाइयों का निपटारा करते और राजनैतिक कार्य्य करने का लोगों मे अनुराग उत्पन्न होता। रानडे ने कांगरेस-वालों से अनेक वार प्रस्ताव किया था कि कांगरेस के अधिवेशन के कुछ महीने पहले व्याख्यानदाता निश्चय कर लिए जाया करें और प्रत्येक विभाग की सरकारी रिपोर्टें उनके पास भेज दी जाया करें जिसमें वे उनको पढ़कर और उनका सारांश बना कर अपने अपने विषयों पर व्याख्यान देने के लिये तय्यार आया करें। इस पर कांगरेस ने अब तक कुछ नहीं किया है। इसी लिये कांगरेस की वक्तृताएँ प्राय तत्व-रहित होती हैं।

उसमें जाकर भारत के कई नेताओं ने अपने विचार प्रकट किए थे। उनमें से गोखले और सुरेंद्रनाथ बैनरजी के विचार रानडे की सम्मति से लिखे गए थे। एक बार रानडे के भी इसी संबंध में विलायत भेजे जाने की चर्चा उठी थी। परंतु सरकार ने इस प्रस्ताव को पसंद नहीं किया।

राजनैतिक विचारों के कारण रानडे को अनेक बार कष्ट हुआ। उन पर सर्कार के उच्च अधिकारी संदेह की दृष्टि रखते थे। उस समय के गवर्नर उनको हाईकोर्ट की जजी भी देना नहीं चाहते थे परंतु उनकी योग्यता भारत में विख्यात हो चली थी इसलिये भारतीय सरकार ने उन्हींको नियुक्त किया।

संदेह की दृष्टि से देखे जाने पर और कष्ट उठाने पर भी वे सदा यही कहते थे कि अंग्रेज़ी राज्य परमेश्वर की देन है। वे इस विषय को इतिहासवेत्ता की दूर तक देखनेवाली दृष्टि से देखते थे। उनका विश्वास था कि जब मुसलमान शासक दुश्चरित्र हो गए और जब हिंदुओं में से सिक्ख और महाराष्ट्र कई बार कृतकार्य होकर भी आपस की फूट को दूर न कर सके तब आवश्यक था कि ऐसी जाति हमारे देश पर शासन करे जो देश के संकीर्ण भावों को विशाल कर दे, और बिखरी हुई शक्तियों को एक कर दे। परमेश्वर को मंजूर था कि भारत जीवित रहे इसी लिये अंग्रेज़ों का राज्य इस देश में स्थापित हुआ। रानडे ने अनेक बार सरकारी शासन में दोष बतलाए; परंतु अंग्रेज़ जाति के न्यायपरायण होने में उनको कभी भी संदेह नहीं हुआ, यहाँ तक कि जब सर-

कार उनपर राजविद्रोही होने का सन्देह करती थी, जिसके कारण वे धुले सदले गए और उनकी चिट्ठियाँ खोल कर पढ़ ली जाती थीं तब भी उन्होंने अपने मुँह से एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। गोखले कहते थे कि एक दिन मुझसे उन से इस विषय पर बात चीत आई, उन्होंने कहा "ओह, वर्त्तमान अवस्था में ऐसी घटनाओं का होना कोई आश्चर्य नहीं हमें यह भी तो नहीं भूलना चाहिए कि उनके स्थान पर यदि हम लोग होते तो इससे बहुत ही अधिक ख़राबियाँ होतीं।"

रानडे के ये विचार वर्षों के अनुभव और इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन और मनन के अनंतर हुए थे। जवानी में उनके विचार बड़े गर्म थे। जब वे कालेज में पढ़ते थे उन्होंने एक निबंध लिखा था जिसमें महाराष्ट्र-राज्य की बड़ी प्रशंसा करते हुए अंग्रेजी राज्य की बड़ी निंदा की थी। उनके अध्यापक सर एलेकजंडर ग्रैंट ने जो एलफिंस्टन कालेज के *प्रिंसिपल थे और जो रानडे की योग्यता के कारण उनसे* बड़े प्रेम का व्यवहार करते थे उनको अपने पास बुलवा भेजा और उनकी भूल बतलाकर उनसे कहा "हे नव-युवक, तुमको उस सरकार की निंदा नहीं करनी चाहिए जो तुम्हें शिक्षा दे रही है और जो तुम लोगों के साथ इतनी भलाई कर रही है।"

प्रिंसिपल महोदय ने अपनी अप्रसन्नता प्रगट करने के लिये छ महीने तक रानडे की छात्रवृत्ति रोक ली थी। गोखले कहते हैं "इस घटना के कारण रानडे के चित्त में उनके लिये कभी भी किसी प्रकार दुर्भाव नहीं उत्पन्न हुआ क्योंकि

वे सदा अत्यंत श्रद्धा और प्रशंसा से उनका नाम लेते थे" रानडे का यह विश्वास आयु पाकर बढ़ता जाता था कि अंग्रेज़ी राज्य में भारतवर्ष भारतवासियों के उद्योग करने पर बड़ी उन्नति कर सकता है।

रानडे की मृत्यु के बाद कांगरेस का जो अधिवेशन १९०१ में कलकत्ते में हुआ था उसमें एक विशेष प्रस्ताव उन की मृत्यु पर दुःख प्रकट करने के लिये पास किया गया था।

स्वागतकारिणी सभा के सभापति महाराजा बहादुर नाटोर ने उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए कहा था " रानडे यद्यपि हमारे अंग नहीं थे परंतु सदा हमारे साथ थे।" उनके विचारों के प्रभाव के संबंध में उन्होंने कहा था कि "राजा राममोहन राय के अनंतर भारत में कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ जिस ने हमारी समस्त जातीय आवश्यकताओं पर एक समान विशाल दृष्टि डाली हो—राजनैतिक और आर्थिक ही नहीं सामाजिक और धार्मिक आवश्यकता पर भी "।

इसी प्रकार सभापति दीनशा एदल जी वाचा ने नवीन शताब्दी के आरंभ होते ही ऐसे महा पुरुष की मृत्यु से भारत की हानि दिखलाते हुए रानडे की समता प्रसिद्ध महात्मा सुक्रात से की थी।

रानडे की मृत्यू के बाद आज भी उन के राजनैतिक विचारों की क़दर की जाती है। गोखले महोदय ने क़ानून संबंधी कई प्रस्ताव पेश करते हुए रानडे के विचारों का उल्लेख किया है।

दक्षिणी अफ्रिका के भारतीय निवासियों की अवस्था के

मवध मे जिस पर आज कल इतना आदोलन हुआ है रानडे के विचार वे ही थे जो आज समस्त भारतवासियों के और भारतीय सरकार के हैं। उनके जीवित काल में भी एक बेर आदोलन उठा था। स्वय श्री गाधी जी को भारतवर्ष आना पडा था, हिंदू यूनियन क्लब वगैरह में उन्होंने बतलाया था कि नेटाल, केप कौलोनी और ट्रासवाल में हिंदुस्तानी सडक की पटरियो पर नहीं चलने पाते, रेल में अव्वल दर्जे मे सफर नहीं कर सकते, होटलों में ठहरने नहीं पाते। रानडे से इस विषय पर गाधी जी बहुत पहले से पत्रव्यवहार कर रहे थे और वे उनकी सलाह पर चला करते थे। उस अवसर पर रानडे ने जो व्याख्यान दिया था उसको गोखले बड़ा उत्तम समझते थे। गोखले की सम्मति में उससे अच्छा व्याख्यान सुनने का अवसर उनको प्राप्त नहीं हुआ था। धारवार की सोशल कानफरेंस में १९०३ में गोखले ने कहा था " रानडे ने (इस अवसर पर) अपने स्वभाववत् दक्षिणी अफ्रिका के भारतवासियों के उस समाम में जो वे मरदानगी के साथ कर रहे थे पूरी सहानुभूति प्रगट की। वे इस बात से प्रसन्न हुए कि विदेश में रहनेवाले भारतवासियों की स्थिति पर लोगों के चित्त में जागृति उत्पन्न हुई जिससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि निरुत्साही कहे जानेवाले हिंदुस्तानियों की मुर्दा हड्डियों में भी जान आ गई। परतु आगे चल कर उन्होंने पूछा—

" क्या यह सहानुभूति केवल उन्हीं स्वदेशी भाइयो क साथ है जो भारत के बाहर रहते हैं? अथवा यह सबके साथ

है और जहाँ जहाँ अन्याय और संकट है वहाँ वहाँ इस सहानुभूति का विस्तार होता है ?" उन्होंने कहा "विदेशियों को बुरा कहना सहल है परंतु न्याय यही है कि जो ऐसा करते हैं वे आत्म परीक्षा करें और जांचें कि क्या वे इस संबंध में बिल्कुल निर्दोषी हैं।" इसके अनंतर उन्होंने बतलाया कि भारत के भिन्न भिन्न भागों में हमारी जाति के लोग नीच जाति वालों से कैसा बर्ताव करते हैं। इस वर्णन को सुन कर श्रोतागण लज्जा, दुःख और क्रोध से भर गए। रानडे ने तब पूछा, और यह पूछना ठीक भी था, कि क्या यह न्याययुक्त है कि वे लोग जो अपने देश मे ऐसा लज्जास्पद क्लेश और अन्याय होने देते हैं दक्षिणी अफ्रिका के लोगों को बुरा कहें"। गोखले कहते हैं कि रानडे का यह स्वभाव था कि जब कभी देश में अशांति फैलती थी तो वे उसका कारण अपने ही पापों का फल बतलाया करते थे।

पूना सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका में रानडे के राजनैतिक विषयों पर बहुत से लेख छपे थे। १८८४ में उन्होंने दो लेख " विलायत में भारतवर्षीय गवर्नमेंट " शीर्षक लिखे थे। उनमें आपने बतलाया था कि कंपनी के राज्यकाल में पार्लामेंट द्वारा भारतवर्षीय शासन की प्रति बीसवें वर्ष जाँच पड़ताल होती थी। १७७३ में रेगुलेटिंग एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल का नवीन पद कायम हुआ। उसकी सहायता के लिये कौंसिल के चार सभासद नियुक्त हुए और सुप्रीम कोर्ट नामकी कचहरी खोली गई। १७९३ में कंपनी के राज्य संबंधी क़ानून स्थिर किए गए। बीस वर्ष

बीतने पर फिर जाँच की गई। इस बेर १८१३ में भारतवर्ष में वाणिज्य का अधिकार केवल इस्ट इंडिया कंपनी ही के हाथ में नहीं रक्खा गया वरंच अन्य कपनियों को भी यह अधिकार दिया गया। सरकार का ध्यान भारतवर्ष की धार्मिक और राजनैतिक अवस्था के सुधार की ओर भी गया। पादरियों को धर्म और शिक्षा प्रचार की आज्ञा मिली। बीस वर्ष के अनतर फिर पार्लमेंट द्वारा इस देश की अवस्था का अनुसंधान हुआ। १८३३ मे भारतवासियों को अंग्रेज़ी प्रजा होने के पूरे स्वत्व प्रदान हुए। उन पर स्पष्ट रूप से विदित किया गया कि धर्म, जन्म-स्थान, वंश अथवा रंग के भेद के कारण कोई भी भारतवासी कपनी के अधीन किसी पद का अधिकारी होने के अयोग्य न समझा जाएगा। फिर बीस वर्ष बीत गए। १८५३ मे सिविल सर्विस के पदाधिकारी परीक्षा द्वारा चुने जाने लगे। १८५८ में राजविद्रोह के बाद भारतीय गवर्नमेंट का नया क़ानून बना।

इस लेख में रानडे लिखते हैं—

"इसका क़ानून बनने के पूर्व किसी प्रकार का अनुसधान नहीं हुआ, इस लिये कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की अवस्था की पार्लमेंट की ओर से गत तीस वर्ष से कोई जाँच नहीं हुई। भारतवर्ष को सम्राट के अधीन आए ७५ वर्ष हो गए, इस लिये समय आ गया है कि प्रत्येक विभाग की पूरी और कठोर आलोचना होनी चाहिए। तभी पार्लमेंट पर विदित होगा कि राज्यप्रणाली में परिवर्तन करने की आवश्यकता है या नहीं" यह लेख १८८४ में लिखा गया था।

रानडे की यह सम्मति आज भी मानी जाती है। योरोपीय युद्ध के बाद भारतवर्षीय शासन में क्या सुधार होना चाहिए इस संबंध में सर विलियम वेडरबर्न और सर कृष्ण गोविंद गुप्त ने कांगरेस को जो पत्र लिखा है उसमें इस पर बहुत ज़ोर दिया है और कहा है कि यह सम्मति रानडे ऐसे "बुद्धिमान और अनुभवी देशभक्त" की है, इस लिये गंभीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है।

---

(१०) ग्रंथ रचना।

रानडे अपने विचार बहुधा व्याख्यानों और लेखों द्वारा प्रकाशित करते थे। सोशल कानफरेंस और अन्य संस्थाओं मे जो वक्तृताएँ उन्होंने दीं और सार्वजनिक सभा की प्रत्रिकादि में जो लेख उन्होंने लिखे थे उनको उच्च श्रेणी का साहित्य समझना चाहिए।

महाराष्ट्रों का अभ्युदय।

उनके ऐतिहासिक ग्रंथों में सब से महत्व की पुस्तक महाराष्ट्रों का अभ्युदय (Rise of the Marhatta Power.) है। इसको काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग और रानडे दोनों मिल कर लिखना चाहते थे परंतु तैलंग की मृत्यु के कारण यह कार्य रानडे ही को करना पड़ा। यह पुस्तक सन् १९०० में छप कर प्रकाशित हुई थी। इसका प्रथम भाग छप जाने पर उन्होंने दूसरा भाग लिखना आरंभ किया परंतु दो तीन अध्याय भी समाप्त नहीं कर सके थे कि उनको संसार छोड़ना पड़ा।

मृत्यु के दो तीन वर्ष पहले से रानडे महाराष्ट्र जाति के इतिहास के ग्रंथ अधिक पढ़ा करते थे। पेशवाओं की दिनचर्य्या, जो साहू राजा के गद्दी पर बैठने के समय से आरंभ होती है और दूसरे बाजीराव के समय समाप्त होती है और जिसमें प्राय २०,००० पृष्ठ हैं उन्होंने स्वयं पढ़ी थी। "पेशवाओं की दिनचर्य्या की भूमिका" नाम का लेख उन्होंने जून १९०० में बम्बई की रायल एशियाटिक सोसाइटी की शाखा सभा में पढ़ा था। उसी सभा में १६ फरवरी १८९९ का "महाराष्ट्र राज्य में सिक्के और टकसाल" शीर्षक लेख उन्होंने भी पढ़ा था। इन लेखों और उनकी पुस्तक से महाराष्ट्र समय का निर्मल वृत्तांत मिलता है। इनसे पता लगता है कि शिवाजी और अन्य महाराष्ट्र योद्धा लुटेरे नहीं थे। इनमें प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है कि इन लोगों की राज्य प्रणाली बड़ी संगठित थी और इनके आचरण बड़े उत्कृष्ट थे। महाराष्ट्र-अभ्युदय नाम की पुस्तक में निम्नलिखित १२ अध्याय हैं—

(१) महाराष्ट्र इतिहास का महत्व।
(२) भूमि किस प्रकार तैयार की गई ?
(३) बीज कैसे बोया गया ?
(४) बीज कैसे लग गया ?
(५) पेड़ में फूल निकले।
(६) पेड़ में फल लगे।
(७) शिवाजी, न्यायपरायण राजा।
(८) महाराष्ट्र देश के साधु संत।

माने; ऐसा चातुर्य और समयोचित संयम जिसका उदाहरण यूरोपीय और भारतीय इतिहास मे विरले ही मिलता है; ऐसी देश-भक्ति जो अपने समय से बहुत पूर्व ही अंकुरित हो और न्याय जो दया से अभिन्न हो --ये सब कारण थे जिनमे शिवा-जी एक महान राज्य के स्थापित करने में सफलीभूत हुए "।

शिवाजी की माता उनकी उन्नति का बहुत बड़ा कारण हुई। शिवाजी ने अपने राज्य को प्रांतों (ज़िलों) में विभाजित किया था। उनके पास २८० किले थे जिनमें युद्ध का पूरा सामान रहता था। जितना बड़ा किला होता था वैसे ही योधा और उतनी ही सेना वहाँ रखी जाती थी।

क़िलों मे चौकीदारी के कठोर नियम थे। उनमें तीन प्रकार के पदाधिकारी रहते थे। एक मराठा हवलदार, एक ब्राह्मण सुबेदार और एक प्रभू कारखानीस। इनके अधीन और बहुत से कर्मचारी थे। हवलदार फ़ौज़ी अफसर होते थे, सूबेदार आस पास के स्थानों से मालगुजारी जमा करते थे और कारखानीस पर क़िलों की मरम्मत और अनाज इत्यादि के जमा करने का भार था। नौ सिपाहियों पर एक नायक होता था। प्रत्येक सिपाही को बँधा हुआ नक़द और अनाज वेतन मिलता था। पुरानी प्रणाली यह थी कि राज्य कई भागों में विभाजित करके कर्मचारियों में बाट दिया जाता था। ये लोग जो कुछ जमा करते थे उसीसे उसका प्रबंध करते थे। थोड़ा राजा को भी उसमें से दे दिया करते थे। शिवाजी ने इस प्रणाली को बिल्कुल बदल दिया। बड़े छोटे सब कर्मचारियों को वेतन मिलने लगा और जो कुछ वे

जमा करते सरकारी खजाने में दे देते। सिपाहियों को आज्ञा थी कि मोगलों के राज्य मे चौथ जमा करें। वर्ष में आठ महीना उनको यही करना पडता था। सिपाही अपने साथ स्त्री और बच्चों को नहीं ले जाने पाते थे परतु भरती होने से पहले उनको अपनी चाल चलन के लिये जमानत देनी पडती थी। *विजयादशमीवाले दिन फौज म नए सिपाही भरती होते थे।* राज्य भर के खेत नपवाए गए थ। हर एक खेत की पैमाइश, उसके मालिक का नाम इत्यादि लिखा गया था। जितनी उपज होती उसका ⅖ वाँ हिस्सा सरकार ले लेती। आपस में झगडा होता तो पच उसका निपटेरा करते। हर एक प्रात का हिसाब सचिव लोगों के पास भेजा जाता। पतअमात्य और पतसचिव ये दोनों पदाधिकारी राज्य का हिसाब किताब रखते और जाँचते थे। राज्यासन के नीचे दहनी ओर पहला स्थान पेशवा अथवा प्रधानसचिव का होता और बाईं ओर पहला स्थान सेनापति का। इसी प्रकार सुमत, पडित राव, न्यायाधीश इत्यादि अन्य साचिव बैठते। इन सब की सामिति को 'अष्ट प्रधान' कहते थे। ये सब अधिकार योग्यतानुसार मिलते थे। परपरागत कोई भी पद नहीं मिलता था। *शिवाजी इसके बिल्कुल विरुद्ध थे कि जिस पद पर बाप हो* उसी पद पर उसका पुत्र नियुक्त किया जाय। उस कुटुब का भी कोई आदमी उस पद पर नहीं रखा जाता था। आगे चल कर जब पेशवा का पद बाप के मरने पर बेटे को मिलने लगा सब अन्य पदाधिकारी भी काम में ढीले पडने लगे।

शिवाजी के समय से पूर्व सस्कृत शिक्षा की ओर लोगों

की रुचि कम हो चली थी। शिवाजी ने 'दक्षिणा' की प्रणाली जारी की। बहुत सी जागीरें धर्मार्थ अलग कर दी गई उससे जो आय होती वह उन ब्राह्मणों में बाँट दी जाती जो विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाते थे। शिवाजी ने इसको नियमबद्ध कर दिया। जिस पंडित के यहाँ अधिक विद्यार्थी हों अथवा उच्च विषयों की शिक्षा हो उसको अधिक 'दक्षिणा' मिलती थी। इस प्रकार उत्साहित होकर ब्राह्मण काशी आकर विद्याभ्यास करने लगे। इसके लिये भी उनको पुरस्कार मिलने लगा। इस प्रणाली को पेशवाओं ने भी जारी रखा जिनके समय में ५ लाख से अधिक प्रति वर्ष संस्कृत विद्या के प्रचार के लिये खर्च होता था। अंग्रेजी गवर्नमेंट इसी धन से बंबई विश्वविद्यालय में छात्रवृत्ति देती है। रानडे स्वयं एक 'दाक्षिणा' फेलो थे जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

महाराष्ट्र समय का यह अमूल्य ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस स्थान पर दो विषयों पर जो इतिहासवेत्ता लोगों में भ्रम है दूर कर देना आवश्यक है। एक शिवाजी के अफ़ज़लखाँ को मारने की कथा और दूसरे महाराष्ट्रों के चौथ जमा करने की प्रथा।

बीजापुर सरकार ने ठान लिया कि शिवाजी को अब नीचा दिखलाना चाहिए। कई बार प्रयत्न करने पर भी उनको सफलता नहीं हुई। इस लिये अपने सब से बहादुर पठान सेनापति अफ़ज़लखाँ को बहुत बड़ी सेना लेकर सन १६५९ के आरंभ में शिवाजी की ओर भेजा गया। अफ़ज़लखाँ ने पहले शिवाजी के बड़े भाई को करनाटक की लड़ाई में मरवा डाला

था। इस बार उसने भरे दरबार मे कहा कि मैं पहाड़ी चूहे (अर्थात् शिवाजी) को जीता या मरा हुआ ले आऊँगा। बीजापुर मे बाई के रास्ते मे तुलजापुर में अंबा भवानी (शिवा जी के कुल की देवी) और पंढरपुर मे विठोबा के मन्दिर पड़ते हैं। अफ़ज़लखाँ ने इनकी मूर्त्तियों को तुड़वा डाला और मंदिर मे गौ का रक्त छिड़कवा दिया। शिवाजी के लिये यह असाधारण गंभीरता का समय था। उन्होंने 'भवानी' देवी की आराधना की और अपनी माता से आशीर्वाद माँगा। फ़ौज लेकर वे भी आगे बढ़े। युद्ध के लिये एक स्थान चुन लिया गया। उन्होंनें अपनी सेना को कृष्णा और कोयना नदी की घाटियों में ठहरा दिया। चारों तरफ जंगल था इस लिये उनकी सेना को बैरी देख नहीं सकते थे। अफ़-जलखाँ ने अपनी सेना को बड़े तपाक से बाई से महाबालेश्वर तक फैला दिया। अफ़जलखाँ की कोशिश यह थी कि वह शिवाजी को पकड़ ले, बस लड़ाई की नौबत ही न आवे। शिवा-जी चाहते थे कि वह अफ़जलखाँ को किसी तरह क़ाबू में ले आवें। शिवाजी ने अपने दूत भेजे और कहला दिया कि मैं हार मानने के लिये तय्यार हूँ। अफ़जलखाँ को विश्वास नहीं हुआ। उसने अपने ब्राह्मण पंडित को ठीक ठीक पता लगाने के लिये भेजा। इस ब्राह्मण का नाम गोपीनाथ पंत अथवा कृष्णाजी भास्कर बतलाया जाता है। शिवाजी की ओर के लोगों ने ब्राह्मण का ब्राह्मणोचित आदर किया। शिवाजी ने उससे रात्रि के समय मिलकर उसको धर्म्म और जाति के प्रति कर्त्तव्यों का उपदेश किया जिसका उस पर बड़ा

प्रभाव पड़ा। अंत में यह तै हुआ कि अफ़ज़लख़ाँ और शिवाजी एक स्थान पर मिल कर निश्चय करें कि क्या करना चाहिए और उनमें से किसीके साथ भी सेना न हो, दोनों मिले। बस यहीं से इतिहासवेत्ता लोगों में मतभेद है। रानडे लिखते हैं 'मुसलमान इतिहासवेत्ता जिनके आधार पर ग्रेंट* ने इतिहास लिखा है, शिवाजी पर दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने धोखे से बाघनख और भवानी तलवार से पहले अफ़ज़लख़ाँ को मारा; परंतु महाराष्ट्र लेखक सभासद और चिटनवीस दोनों लिखते हैं कि अफ़ज़लख़ाँ ने मिलते ही अपने बाएँ हाथ से शिवाजी की गर्दन पकड़ी और अपनी तरफ़ खींच कर उनको अपनी बाईं बाँह के तले दबा लिया। शिवाजी पर जब विदित हो गया होगा कि अफ़ज़लख़ाँ की नियत ख़राब है तब उन्होंने तलवार चलाई। उन दिनों ऐसे अवसरों पर इस प्रकार का धोखा देना साधारण बात थी। इसको मान लेना चाहिए कि शिवाजी और अफ़ज़लख़ाँ दोनों इस ख़तरे के लिये तय्यार थे। शिवाजी को ऐसा करने के लिये प्रबल कारण थे। उनको अपने बड़े भाई की मृत्यु, तुलजापुर और पंढरपुर के मंदिरों के अपवित्र किए जाने का बदला लेना था। उनको यह भी मालूम था कि वे वैरी से खुले मैदान नहीं लड़ सकते थे क्योंकि दोनों की सेना बराबर नहीं थी। गत बारह वर्षों में शिवाजीने जो कुछ जीत प्राप्त की थी और

* रालिंसन ने भी अपने सुंदर शिवाजीचरित्र में मुसलमान इतिहास लेखक ख़फ़ी ख़ाँ के ही आधार पर इस कथा को लिखा है।

आगे के लिये जो कुछ सोचा था उसकी सफलता इसी समय के परिणाम पर निर्भर थी। इस लिये धोखे से अपना काम निकालने के लिये अफ़ज़लख़ाँ की अपेक्षा उनको अधिक आवश्यकता थी। दोनों के चरित्र पर भी विचार करना चाहिए। एक घमंडी और ओछा था। दूसरा अत्यंत गंभीर और चौकन्ना था। ”

चौथ और सरदेशमुखी पर रानडे ने एक पूरा अध्याय लिखा है। उन्होंने प्रमाण देते हुए लिखा है कि पूर्व काल में देशमुख लोग मालगुज़ारी जमा करते थे और उसमें से १०) प्रति सैकड़ा रख लिया करते थे। देशमुख कुटुंब और शिवाजी के कुटुंब में विवाह शादी होने लगी। इस कारण शिवाजी की इच्छा थी कि वे भी सरदेशमुखी अर्थात् १०) प्रति सैकड़ा कर जमा करें। इस संबंध में उन्होंने शाहजहाँ और औरंगज़ेब से पत्र व्यवहार किया था परंतु कुछ फल नहीं निकला। १६६७ में शिवाजी ने बीजापुर और गोल्कुंडा पर चौथ और सरदेशमुखी का कर लगाया। १६६८ में बीजापुर ने ३ लाख और गोल्कुंडा ने ५ लाख दिया। १६७१ में ख़ानदेश के मोग़ल सूबे से भी कर मिला। १६७४ में कोंकन के पुर्तगाल राज्य के अधीन स्थानों से भी कर मिला। जहाँ से कर *मिलता था वहाँ के लोगों की मुग़ल आक्रमण से रक्षा का* भार शिवाजी अपने ऊपर लेते थे। उस समय मोग़लों ने जितने आक्रमण किए सब में शिवाजी के सैनिकों ने दक्षिण प्रांत के राज्यों की सहायता की। बेदनोर के राना और सुनदा के सरदार ने अपनी रक्षा के लिये अपने आप कर

देना स्वीकार किया। रानडे लिखते हैं " १६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई। इससे पहले उन्होंने दक्षिणी भारत के हिंदू और मुसलमान राजाओं की मरज़ी से जिनकी वह रक्षा करते थे, कर लेकर उनमें मेल करने की प्रथा स्थापित कर दी थी। मोगलों के सूबों में कहीं कहीं वह ज़बरदस्ती कर जमा करते थे। सरदेशमुखी मालगुज़ारी जमा करने के बदले में पहले ही से मिला करती थी। चौथ का कर पीछे जोड़ा गया। यह उस सेना के रखने के लिये खर्च होता था जो विदेशियों के आक्रमणों से बचाने के लिये रखी जाती थी। जिनकी रक्षार्थ यह कर लगाया जाता था वे प्रसन्नतापूर्वक इसको देते थे। यह प्रणाली शिवाजी ही की सोची हुई थी और इसीका अवलंबन एक सौ पचीस (१२५) वर्ष पीछे मारकिस वेलेस्ली ने अंग्रेज़ी राज्य की वृद्धि के लिये सफलता पूर्वक किया।"

रानडे के इस इतिहास से मालूम होता है कि महाराष्ट्र लुटेरे और डाकू नहीं थे। उनकी उत्पत्ति और उनका अभ्युदय जातीयता और देशभक्ति के उद्वेग का परिणाम था।

छपते ही इस पुस्तक पर अनेक कटाक्ष हुए। जो लेखक शिवाजी को हत्यारा और लुटेरा समझते थे वे बिगड़ खड़े हुए और कहने लगे कि रानडे ने अपने नायक के गुणों और कार्यों को आकाश तक चढ़ा दिया है परंतु वे लोग यह भूल जाते थे कि रानडे ने शिवाजी और पेशवाओं के समकालीन लेखकों की साक्षी पर अपनी सम्मति निश्चय की थी। रानडे उन लोगों में से नहीं थे जो अपने देश की बुराइयों की भी प्रशंसा करें।

हर्ष का विषय है कि अंग्रेजी में जो भारतीय इतिहास संबंधी ग्रंथ अब छपते हैं उनमें शिवाजी के प्रति श्रद्धा उत्तेजक शब्दों का प्रयोग होता है।

INTRODUCTION TO THE PESHWA'S DIARIES

पेशवाओं की दिनचर्या की भूमिका।

जिस प्रकार शिवाजी के चरित्र और शासन का वृत्तांत 'महाराष्ट्र राज्य के अभ्युदय' में लिखा गया है उसी प्रकार इस छोटी सी पुस्तक में पेशवाओं के राज्य के समय का वर्णन है, परंतु यह दिग्दर्शनमात्र है। इसमें केवल ३७ पृष्ठ हैं। आरंभ में इस बात पर विचार किया गया है कि महाराष्ट्र राज्य का सूर्य्य अस्त क्यों हुआ। रानडे लिखते हैं "हमारे साधारण बखर में और ग्रैंट डफ जैसे अंग्रेज इतिहासवेत्ता के ग्रंथों में केवल राजनैतिक घटनाओं का वर्णन होता है। उनसे लोगों की अवस्था, व किस प्रकार रहते थे, किस प्रकार ऐश्वर्य प्राप्त करते थे, उनका मनोरंजन किस प्रकार होता था, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी रहन सहन, उनके आचार व्यवहार और उनके मिथ्या विश्वास, (भूत प्रेतादि से डरना) क्या थे। इन ग्रंथों से यह स्पष्ट पता नहीं लगता है कि भारतवासियों के राज्य-काल में राज्य का कार्य्य किस प्रकार होता था, भूमि पर कर किस प्रकार लगाया जाता था और जमा होता था, किलों की रक्षा का क्या प्रबंध था, आबकारी, नमक, चुंगी इत्यादि का रुपया

किस प्रकार खर्च होता था, फ़ौज में सिपाही किस प्रकार भरती होते थे और उनको वेतन किस प्रकार दिया जाता था, लड़ाई के जहाज़ों का क्या प्रबंध था, सरकार ऋण किस प्रकार लेती थी, फ़ौजदारी और दीवानी के मुकदमों में किस प्रकार न्याय होता था, पुलिस, डाक, टकसाल, जेहलखानों, धर्मार्थ संस्थाओं, पेंशन, सड़कों और राजकीय भवनों के निर्माण, रोगियों की चिकित्सा, शहर की सफ़ाई इत्यादि का क्या प्रबंध था, व्यापार और विद्या की किस प्रकार वृद्धि की जाती थी। बहुत से लोगों को यह असाधारण आश्चर्य की बात मालूम होगी कि केवल सौ वर्ष पहले भारतीय शासक लोगों का ध्यान पूरी तौर पर उन सब विषयों पर था जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और अपने शासन में वे भली भाँति कृतकार्य भी हुए थे। न केवल कृतकार्य ही हुए थे बल्कि शायद बहुत से लोग कह बैठेंगे कि ये लोग अपने नियमित कर्त्तव्यों से आगे बढ़ जाते थे, क्योंकि उन्होंने समाज-संशोधन के बहुत से ऐसे सुधार जारी कर दिए जिनके संबंध में आज कल भी यह कहनेवाले मिल जायँगे कि ये सुधार शासक के कर्त्तव्यों के बाहर थे। इन सब विषयों के ज्ञान के लिये ये सरकारी दिनचर्य्याएँ जो पेशवाओं के दफ्तर में उस कर्मचारी लिखा करते थे अत्यंत बहुमूल्य हैं। यद्यपि उसमें भी दोष हैं परंतु उनसे भी अच्छी सामग्री के अभाव की अवस्था में उनके द्वारा उस समय के लोगों की एक सौ वर्ष से उपरांत तक क्या संस्थाएँ थीं, उनकी आशाएँ और आशंकाएँ, उनके दोष और गुण क्या थे, इन

बातों पर ज्योति पड़ती है। उनका महत्व शिक्षा और सुधार के लिये लड़ाई और विजय, राज्यवंशो के परिवर्तन और विप्लव की कहानियों की अपेक्षा जो आजकल के साधारण इतिहास ग्रंथों म इतना स्थान लेती हैं बहुत बढ कर है।"

एक समय वह था जब महाराष्ट्र लोगों का उस समय के मुसलमान हिंदू, सिक्ख, जाट, रोहेला, राजपूत, पुर्तगाल आदि राज्यों पर पूरा दबदबा था और एक वह समय आया कि उन्हींका राज्य छोटे छोटे टुकड़ों में बटने लगा। रानडे लिखते हैं "इन दो समयों को प्रथक करनेवाला काल वह है जब शिवाजी और शाहू की औलाद से राजकीय अधिकार ब्राह्मण पेशवाओं के हाथ में चला गया, जब शाहू की मृत्यु के उपरात महाराष्ट्र राजधानी सातारा से पूना हटा दी गई। राजा शाहू ने पेशवा को समस्त राज्य के प्रबंध करने का अधिकार पत्र लिख दिया, जिसमें राजा का नाम बना रहे और राज्यवंश की प्रतिष्ठा कायम रहे। शाहू के उत्तराधिकारी रामराजा ने इस अधिकार-पत्र पर मानों अपनी मोहर लगा दी जब उन्होंने भी अपना सब विभव, सिर्फ इस शर्त पर छोड़ दिया कि सातारा के पास उनको थोड़ी सी जमीन अपने लिये मिल जाय। पानीपत के युद्ध को जिसने महाराष्ट्र विजय की बाढ़ के ज्वार को रोक लिया, उस काल की ऐतिहासिक सीमा का चिह्न समझना चाहिए। इसके उपरात के ६० वर्षों में जाति के और शासकों के चरित्र के दोष एवं एक करके प्रकट होने लगते हैं जिनसे मालूम होता है कि १८१७ में देश के अंग्रेजों के हाथ में आने से बहुत पहले उनका अध-

पतन तेज़ी से हो रहा था। पेशवाओं की पीछे की नीति शिवाजी के निर्धारित सिद्धांतों से जिनका राजाराम और शाहू ने थोड़ा बहुत भक्तिपूर्वक अनुकरण किया था विपरीत थी। उन सबे सिद्धांतों के भूल जाने और फूट और संकीर्णता की ओर झुक जाने से अधःपतन के बीज बो दिए गए।"

शासन पद्धति।

महाराष्ट्र अभ्युदय के इतिहास में बतलाया जा चुका है कि शिवाजी राजमंडल के द्वारा शासन करते थे जिसके सबसे बड़े आधिकारी पेशवा थे। सब मंत्रियों के काम बँटे हुए थे और इन पदों पर नियुक्ति योग्यतानुसार होती थी। कोई पद वंशपरंपरा युक्त नहीं था और एक पद से दूसरे पद पर बदली भी होती थी। बालाजी विश्वनाथ के पहले प्रायः १०० वर्ष तक पेशवा के पद पर चार भिन्न भिन्न वंशों के लोग काम कर चुके थे। प्रतिनिधि, सचिव और मंत्री के पद पर तीन भिन्न भिन्न वंशों के लोगों ने काम किया था। सेनापति के पद पर ७ या ८ भिन्न भिन्न वंशों के सर्दार रह चुके थे। यही हाल छोटे पदाधिकारियों का था। प्रत्येक विभाग में अलग अलग अफसर थे; उनमें से कोई जिलाधीश का काम करता, कोई क़िलों का प्रबंध करता, कोई सेना की देख भाल करता। इन सबकी नियुक्ति राजमंडल द्वारा होती थी। अफ़सरों को अपने अधीन कर्मचारियों को निकालने का अधिकार नहीं था। अफ़सर भी भिन्न भिन्न जातियों के चुने जाते थे। राजमंडल की सभाएँ होती थीं, जिनमें प्रत्येक

राजकीय विषय पर विचार होता था। एक सभा में बाजी-राव ने प्रस्ताव किया था कि दिल्ली पर चढाई करनी चाहिए, प्रतिनिधि ने वहीं बाजीराव का विरोध किया था।

आगे चलकर पेशवा, प्रतिनिधि, सेनापति इत्यादि के पद वंश-परंपरागत होगए। राजा कठपुतली की नाईं रहने लगा। राजमंडल का बल टूट गया। पेशवा ही अपने को नरपति समझने लगे। इनकी देखा देखी बडोदा, इंदौर, ग्वालियर, नागपुर और अन्य महाराष्ट्र रियासतों में भी यही होने लगा। ये रियासतें अपने को स्वाधीन समझने लगीं। राष्ट्रीयता के उच्च भाव संकीर्णता में परिवर्तित हो गए। शिवाजी का यह सिद्धांत था कि राज्य प्रतिनिधियों द्वारा चले और सब लोग धर्म और जाति पर न्योछावर होकर काम करें। उनके समय में ब्राह्मण, मरहठा इत्यादि सब जातियों के लोग युद्ध में लड़ते थे। शिवाजी के कई योद्धा सर्दार ब्राह्मण थे।

ब्राह्मणों का प्रभुत्व।

पर उनके पीछे केवल ब्राह्मणों का ही स्वत्व राजमंडल पर अधिक बढ़ने लगा। युद्ध में उन्होंने जाना छोड़ दिया। १७६० में जितने प्रसिद्ध पुरुषों के नाम मिलते हैं सब ब्राह्मण थे। आगे चलकर ब्राह्मणों में भी फूट पड़ी, कभी गौड सारस्वतों का मान होने लगा, कभी देशस्थ ब्राह्मण एक ओर हो जाते और कोकणस्थ दूसरी ओर। रानडे लिखते हैं— "दलों के अंदर दल बन गए जिनमें आपस में बिलकुल सहानुभूति नहीं थी कि जो देश की समस्त जातियों को प्रेम के

बंधन में जिस प्रकार शिवाजी, राजाराम और शाहू रखने मे कृतकार्य हुए थे रख सके। शताब्दी का प्रथम अर्द्ध भाग इस प्रकार की जातीय ईर्ष्या से बिलकुल मुक्त था। दूसरे अर्द्ध भाग में यह द्वेष इतना बढ़ गया था कि मेल असंभव था और प्रत्येक नेता देश की भलाई के विरुद्ध अपना ही स्वार्थ देखता था। ब्राह्मण इस समय अपने लिये विशेष स्वत्व और अधिकार चाहने लगे जो शिवाजी की राज्यप्रणाली मे नही था। कोकणस्थ ब्राह्मण कारकुन लोगो को जो 'दफ्तर' (Secretariat) में भर गए थे और जिनको वेतन भी अच्छा मिलता था अपना अनाज और असबाब बिना चुंगी अथवा नाव का किराया दिए हुए लाने का अधिकार मिल गया। कल्याण और मावल प्रांत में ब्राह्मण ज़मींदारो को अन्य जाति के जमींदारों की अपेक्षा आधा या उससे भी कम कर देना पड़ता था। फौजदारी कचहरियों में किसी अपराध का भी कठोर दंड उनको नहीं दिया जाता था (यह प्रथा पहले से चली आई थी)। उनमे से जो किले में क़ैद किए जाते थे उनके साथ औरों की अपेक्षा रिआयत होती थी। इस प्रकार के लाभ के अतिरिक्त उनको धर्मार्थ कोष से जो कुछ दान होता था मिलता था। द्वितीय बाजीराव के समय के जो लेख मिलते हैं उनमे यह प्रथा किस दुर्गति तक पहुँची थी इसकी पर्याप्त साक्षी मिलती है। दक्षिणा द्वारा दान की प्रणाली से जो विद्योन्नति के अर्थ चलाई गई थी ब्राह्मण मात्र को दान मिलने लगा और पूना कंगालों की बहुसंख्या का केंद्र बन गया। त्योहारों पर सरकार की ओर से कई दिनों

तब ३० और ४० हजार ब्राह्मणों को उत्तम से उत्तम भोजन मिलने लगा। शताब्दी के अंत के इतिहास में जाति विशेष के सम्मानादि की बातें अधिक मिलती हैं। बहुत कम इतिहासज्ञ इस पर विचार करते हैं कि इनके कारण कितनी अधोगति हुई। अंतिम बाजीराव के समय सब जातियों की रक्षा करने और सबके साथ बराबर न्याय करने का आदर्श जाता रहा था। रामदास के महराष्ट्र धर्म का उच्च आदर्श इतना सकीर्ण कर दिया गया था कि लोग समझने लगे कि राजा का धर्म केवल "गौ ब्राह्मणों की रक्षा करना है।"

सेना।

शिवाजी के समय में क़िलों के फतह करने के लिये पैदल सिपाही और मैदान की लड़ाई के वास्ते घुड़सवार रक्खे जाते थे। ये घुड़सवार औरंगजेब की सेना से लड़ते थे और सारे भारतवर्ष में इनका डर फैल गया था। ये घोड़े सहित या अकेले भरती होते थे और केवल ८ महीने काम करते थे। बरसात आतेही ये अपने घर जाकर खेती करते थे। जब ये भरती होने के लिये आते थे तब पहले ही से इनको कुछ रुपया दिया जाता था जिसको 'नालबंदी' कहते थे, जिसमें लड़ाई का पूरा सामान वे अपने साथ लावें। बड़े बड़े प्रतिष्ठित घर के लोग सेना में सम्मिलित होना जातीय गौरव समझते थे। आगे चलकर महाराष्ट्र फौज में गोलंदाज रखे जाने लगे। अरब, शेख, पुर्तगाल जो कोई मिलता भरती किया जाता। पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम खाँ गर्दी सेना

पति था जो किसी महाराष्ट्र अधिकारी की नहीं सुनता था और मनमानी कार्रवाई करता था परंतु सदाशिवराव भाऊ को उस पर वड़ा विश्वास था। यद्यपि इस युद्ध में मरहठों की कमर टूट गई थी तथापि उन्होंने इधर उधर के निकाले हुए किराए के टट्टुओं को रखना नहीं छोड़ा। उन्हीं के हाथ से नारायणराव पेशवा मारा गया तिस पर भी सेना मे उनकी संख्या वढ़ती ही गई। फिरंगियो की फौज की सज धज, उनकी गोलंदाज़ी, उनका नियमवद्ध काम करना देख कर अफ़सर भी फ़िरंगी रखे जाने लगे। कभी कोई भूला भटका अंग्रेज़ या फ्रेंच मिल जाता उसको सेना का अफ़सर बना देते और अभिमान में चूर हो जाते, यहाँ तक कि किलों का प्रवंध भी ऐसे ही लोगों के हाथ में दे दिया गया। फौज के साथ लुटेरो का दल भी रहता था जिनको पूरा अधिकार था कि जहाँ चाहें लूट मार करें। इधर इनके कारण देश मे वड़ा असंतोष फैलने लगा, उधर जब कभी फिरंगी अफसर छोड़ कर चल देते फौज का सब काम बंद हो जाता। वीरता और संगठन शक्ति का लोप होन लगा। रानडे लिखते हैं—"जब जनरल वेलज़्ली और लार्ड लेक ने गोलंदाज़ों की, जो उनसे लड़ने गए थे, शक्ति को तोड़ दिया तब देश में इतना बल रह नहीं गया था कि अंग्रेज़ो की विजय जो स्वाभाविक रूप मे होनी ही थी रुक सके। पुरानी पैदल और घुड़सवार सेना उत्साहहीन हो गई थी और नए सिपाहियों का जो केवल रुपए के लालच से भरती हुए थे कोई नेता ही नहीं रह गया था, न उन्हें ड्रिल छोड़ कर कुछ युद्ध विद्या ही आती थी। ये

सब उतने ही बेकार हो गए थे जितने वे लुटेरे, जो उनके साथ चलते थे। यही परिवर्त्तन था जिसने उस शताब्दी के अंत में जाति को बलहीन कर दिया।"

सामुद्रिक सेना।

शिवाजी ने सामुद्रिक सेना भी तैयार की थी। उसका सेनापति एक मुसलमान था। पेशवाओं ने इसमें अधिक उन्नति की थी। उनके समय में इस सेना का मुख्य स्थान विजयदुर्ग था। थोड़ी फौज बेसीन स्थान में भी रहती थी। इस सेना द्वारा युद्ध का कोई बड़ा काम नहीं हुआ, केवल व्यापार की रक्षा की जाती थी और कच्छ और गुजरात की ओर से जो सामुद्रिक डाकू आ जाया करते थे उनका कभी कभी दमन किया जाता था। उस समय में अंग्रिया जाति बड़े ज़ोर पर थी। उनके पास भी जहाज थे। अंग्रेज़ों और अंगरियों में कई बार युद्ध हुआ था। १७५६ में पेशवा बालाजी बाजीराव ने अंग्रेज़ों का साथ दिया और अंगिरा लोगों के जमीन और समुद्र पर नाश करने में सहायता की। रानडे लिखते हैं "अंगिरा लोगों का बल नाश करने में अंग्रेज़ों की सहायता करके पेशवाओं ने आक्रमण करने और रक्षा करने के लिये जो जलसेना तैयार की थी उसके महत्व को घटा दिया।"

दुर्ग।

पहले बतलाया जा चुका है कि शिवाजी के समय में ये दुर्ग बड़े काम के थे। इनमें सब जातियों के लोग नौकर

रखे जाते थे। ब्राह्मण, मराठा, रामोशी, महार और मांग, छोटी जाति के लोगों से दौड़ धूप का काम लिया जाता था। पेशवाओं के समय में यहाँ अनाज का भंडार रहता था और ऐसे अपराधी मर्द और औरत, जिन को जन्म भर का दंड दिया जाता था यहाँ भेजे जाते थे। अंग्रेज़ों से जितने युद्ध हुए उनमें इन क़िलों से कोई रक्षा नहीं मिली।

आर्थिक अवस्था।

शिवाजी के समय राज्य की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। बहुत मुश्किल से आमदनी ख़र्च बराबर रखा जाता था। परंतु पेशवाओं के समय मे दिन प्रति दिन आय बढ़ती जाती थी। इस अंश में पेशवाओं का समय अच्छा था। बाजीराव (प्रथम) को उत्तरीय हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने के लिये कठिनाई से रुपया जमा करना पड़ता था। उस समय की 'दिनचर्या' के लेख से पता लगता है कि १७४० और १७६० ई० के बीच में बालाजी बाजीराव ने डेढ़ करोड़ ऋण लिया, जिस पर बारह से अट्ठारह प्रति सैकड़ा ब्याज देना पड़ता था। माधवराव पेशवा को मृत्यु के समय २४ लाख का क़र्ज़ था। नाना फड़नवीस ने अपने समय में ऋण बहुत कम कर दिया था। अंतिम पेशवा को एक पैसा भी ऋण नहीं था बल्कि उसने अपने निज के लिये बहुत सा ख़ज़ाना जमा कर लिया था।

मालगुज़ारी का प्रबंध।

बालाजी बाजीराव, माधवराव और नाना फड़नवीस का

मालगुजारी का प्रबंध अच्छा था। आमदनी के नए जरिए निकाले जाते थे और पुराने जरियों का सुधार किया जाता था। इस का ख्याल रखा जाता था कि प्रजा को कष्ट न हो। युद्ध अथवा अकाल के कारण जब प्रजा को कष्ट होता था सरकारी मालगुजारी कम की जाती थी। बीज और आवश्यक वस्तुओं का दाम घटा कर हिसाब लगाया जाता था। रानडे ने प्रत्येक प्रांत की मालगुजारी का किस किस वस्तु पर क्या हिसाब था ब्योरे वार दिया है। उत्तरीय कोनकण में ब्राह्मण जमींदारों से कर कम लिया जाता था।

मालगुजारी जमा करने के लिये अधिकारी अलग थे। उन के विरुद्ध शिकायतें बड़े ध्यान से सुनी जाती थीं, और आवश्यकता पड़ने पर उनको उचित दंड भी दिया जाता था। आमदनी और खर्च का पूरा बजेट बनता था जिसको 'घेहेदा' कहते थे। अंतिम पेशवा के समय में मालगुजारी के साथ साथ उनके लिये भी चोरी से रुपया जमा किया जाने लगा जिस को 'खासगी' कहते थे। इतिहासवेत्ता ग्रांट डफ मुक्तकंठ से स्वीकार करता है कि मालगुजारी में जो कुप्रबंध थे उनके कारण लोगों को इतना कष्ट नहीं था जितनी हानि स्वयं राज्य को पहुँच रही थी। वह यह भी मानता है कि महाराष्ट्र देश भारत के अन्य हिस्सों की अपेक्षा बहुत सुखी था।

देश का विभाग।

महाराष्ट्र देश बारह सूबों में विभाजित था और प्रत्येक सूबे में कई परगने या मामलत थे जिनको आज कल ताल्लुका

कहते हैं। वे सूबे ये थे— (१) खानदेश इसमें ३० परगने थे (२) नेमाड़ प्रांत हांडा इसमें ५ परगने (३) पूना और नगर–१८ परगने (४) कोकण–१५ परगने (५) गंगा थादी, नासिक जिला इसमें शामिल था, २५ परगने (६) गुजरात प्रांत–२० परगने (७) करनाटक (८) सातारा (९) जुन्नार (१०) कल्याण और भिवंडी (११) अरमार सूबे (१२) विजय-दुर्ग और वेसीन।

उस समय में गावों मे एक प्रकार का स्वराज्य था। गाँव के लोग अपना प्रबंध आप करते थे।

वेतन और भाव।

नौकरों और सिपाहियों की तनखाह ३) से ७) रु० तक थी। होशियार कारीगर ।=) से ॥=) तक प्रति दिन कमाते थे। चीजों का दाम आज कल की अपेक्षा जल्दी घटता बढ़ता रहता था परंतु तिसपर भी वस्तुएँ आज कल की अपेक्षा तीन या चार गुनी सस्ती थीं। कभी कभी कहीं अकाल भी पड़ता था परंतु महाराष्ट्र राज्यकाल में किसी बड़े अकाल का वर्णन नहीं मिलता।

खेतवालों को गाय बैल खरीदने या आग मे जलजाने पर मकान बनवाने के लिये रुपया मिलता था।

सरकार की तरफ से नदियों पर घाट बनवाए जाते थे, कुएँ और तालाब खुदवाए जाते थे और सड़कें बनवाई जाती थीं।

आवश्यकता पड़ने पर सरकार मालगुजारी पेशगी लेती थी और उस पर १२) प्रति सैकड़ा ब्याज देती थी।

बेगार की प्रथा उस समय भी थी। पहले के पेशवाओं के समय में इस प्रथा से ग़रीब दुखी थे। माधवराव (प्रथम) के समय में इस कष्ट के निवारण का कुछ प्रबंध किया गया था। जिनसे काम लिया जाता था उनको थोड़ा बहुत रुपया दिया जाने लगा। रानडे लिखते हैं "इस दिनचर्य्या के मालगुजारी सबंधी लेख को पढ़कर चित्त पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यह कहना कठिन होगा कि गत ८० वर्षों में इस सबंध में किसी प्रकार की उन्नति हुई है"।

भूमि के कर के अतिरिक्त मकानों और दुकानों पर टैक्स लगता था। नमक पर भी टैक्स लगाया जाता था परंतु वह आज कल की अपेक्षा बहुत ही कम था। कहीं कहीं ताड़ी पर टैक्स लगता था।

अनेक प्रकार के छोटे छोटे और टैक्स थे जैसे—घी पर, भैंस पर, विवाह पर। घास चराने के लिये और मछली पकड़ने के लिये टैक्स देना पड़ता था। घाटों पर प्रायः कर नहीं देना पड़ता था। ये सब सरकारी थे पर कहीं कहीं जहाँ आना जाना बहुत लगा रहता था घाटों का ठीका दिया जाता था। परंतु ये सब महाराष्ट्रों के पीछे के इतिहास में मिलते हैं।

न्याय।

प्रत्येक प्रांत में कचहरियाँ थीं। उन सब के ऊपर न्यायाधीश का अधिकार था जो पूना में कचहरी करते थे। न्यायाधीश के पद पर जितने लोग थे उनके नाम मिलते हैं। वे

विद्वान्, अनुभवी और धर्मज्ञ थे। उनमें रामशास्त्री का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। ये अपने घर में केवल एक दिन का भोजन रखते थे। सादी चाल से रहते थे। जब नारायणराव मार डाला गया और थोड़े दिनों के लिये रघुनाथराव पेशवा बन बैठे, रामशास्त्री ने यह कह कर न्यायाधीश का पद त्याग दिया कि नारायणराव के मारे जाने का प्रायश्चित यह है कि रघुनाथराव मारा जाय, इसके राज्य में कभी ऐश्वर्य नहीं आयगा।

दीवानी में अधिकतर जायदाद के बटवारे, ज़मीन की चौहद्दी के झगड़े, वंश चलाने के लिये गोद लेने इत्यादि के मुक़दमें आते थे। दोनों तरफ से साक्षी उपस्थित किए जाते थे। पवित्र नदियों के जल की कसम दी जाती थी, गवाहों का बयान लिखा जाता था, दोनो तरफ़ के लोग अपनी ओर से पंच चुनते थे। जब साक्षी नहीं मिलती थी तब खौलते हुए पानी में हाथ डाला जाता था। लोगों का विश्वास था कि सच्चे आदमी का हाथ नहीं जलता परंतु ऐसे मुकदमें बहुत कम होते थे। 'दिनचर्या' के लेख में ७० अभियोगों का वर्णन है जिनका पूरा फैसला दिया हुआ है। इनमें से केवल ६ ऐसे हैं जिनमे आग की साक्षी पर फैसला निर्भर किया गया था परंतु केवल दो ही में उस[illegible] नौबत आई। उस समय में वकील नहीं थे।

फौजदारी के मुक़दमों में जन्म भर का कारागार; थोड़े काल के लिये क़ैद; जायदाद का ज़ब्त होना; जुर्माना और देशनिकाले का दंड होता था। माधवराव (प्रथम) के समय में कुछ अभियोगों में नाक, कान काटे गए थे परंतु ऐसे

उपद्रव के समय में भी फाँसी किसी को नहीं दी गई। नाना फड़नवीस के काल में अवश्य बड़ा कठोर दंड मिलता था। *खून, राजविद्रोह और डकैती के मुकदमों में निर्दयता से* शरीर अंग भंग किया जाता था और फाँसी दी जाती थी। ब्राह्मण और किसी जाति की स्त्री को इस प्रकार का दंड *नहीं मिलता था।*

रानडे ने अपने इस ग्रंथ में प्रत्येक प्रकार के अभियोगों की संख्या बतलाई है और प्रत्येक अभियोग में जो जो दंड दिए गए उनका उल्लेख किया है। उनका ब्योरा पढ़ने से मालूम होता है कि बलवा करने या बैरी से मिल जाने पर किले में कैद करने अथवा जायदाद के जब्त होने की आज्ञा हुआ करती थी। परंतु पेशवाओं के मारने का यत्न करने अथवा राज्य के विरुद्ध युद्ध ठानने पर अपराधी हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिया जाता था।

गुलामी।

व्यभिचार के लिये स्त्रियों को जन्म भर कैद में रह कर चक्की पीसनी पड़ती थी और मरदों को जुर्माना होता था अथवा कैद। ऐसी स्त्रियों को केवल इतना ही दंड नहीं मिलता था। ये सदा के लिये अपनी स्वतंत्रता खो बैठती थीं। इनके साथ गुलामों का सा बर्ताव होता था। इनकी संतान भी वैसी ही समझी जाती थी। दूसरी रियासतों से बंजारे लोग बच्चों को बेचने के लिये भगा लाते थे। ये बच्चे भी गुलाम समझे जाते थे। इस प्रकार से पेशवाओं के समय में गुलामी की

प्रथा चल निकली थी। जब ये बुड्ढे हो जाते थे, कभी कभी लोग धार्मिक भाव से भी इनको छोड़ दिया करते थे। इन ग़ुलामों, विशेष कर स्त्रियों के साथ, दया का बर्त्ताव होता था।

भूत प्रेतादि में विश्वास।

एक प्रकार के अपराध का उस समय के इतिहास में बहुत वर्णन आता है। उसका दंड भी बहुत था। वह भूत प्रेतादि के संबंध में था। यदि यह मालूम हो जाता कि अमुक स्त्री या मर्द अपने पड़ोसियों या अन्य लोगों के कुटुंब पर जादू टोना करती है या भूत डाल देती है तो उनकी कड़ी सज़ा होती थी। अंतिम दो पेशवाओं के समय मे तो कई कर्मचारी केवल ऐसे लोगों की तलाश और सज़ा के लिये नियुक्त किए गए थे। ज़िलाधीश और पुलिस का उस समय यह कर्त्तव्य था कि इस कष्ट से लोगों को बचावे।

पुलीस।

उस समय में भी पुलीस थी। बड़े बड़े शहरों में कोतवाल भी रहते थे। इन लोगों का काम नगर की रक्षा तो था ही परंतु नगर की सफाई भी इन्ही के सुपुर्द थी। झाड़ू देनेवालों को येही नियुक्त करते थे। कोतवाल को लोगों को दंड देने का भी अधिकार था।

डाकखाने।

उस समय मे डाक का प्रबंध नहीं था। सरकारी डाक 'क़ासिद' लोगों के द्वारा भेजी जाती थी। इन लोगों को

यात्रा में प्रतिदिन ३) मिलता था। ये लोग १८ दिन में दिल्ली डाक पहुँचाते थे। कलकत्ते की डाक बनारस भेजी जाती थी और वहाँ से अंग्रेजी डाकखाने के द्वारा पत्र कलकत्ते चला जाता था।

साधारण लोग अपनी चिट्ठी पत्री साहुकारों की आढ़तों के द्वारा भेजते थे।

औषधालय।

उस समय में अस्पताल भी नहीं थे। हकीम और वैद्यों की संख्या अवश्य बहुत थी। इनमें से किसी किसी का राज्य की ओर से विशेष सम्मान होता था। एक गुजराती वैद्य का वर्णन आया है जो नासिक में मुफ्त दवा बाँटा करता था। राज्य की ओर से इसको जागीर भी मिली थी। इस के पुत्र ने भी औषधालय स्थापित रक्खा इस लिये जागीर उसके नाम क़ायम रही। एक दूसरे वैद्य के संबंध में भी लिखा है कि वाई स्थान में सरकार ने उसके लिये औषधियाँ बोने के निमित्त एक वाटिका बनवा दी थी और अन्य प्रकार से भी उसको सहायता मिलती थी।

पेंशन।

सेना विभागवालों को बड़ी उदारता से पेंशन मिलती थी। पेशवाओं के इतिहास में सहस्रों ऐसे लोगों के उदाहरण मिलते हैं कि जिनके मर जाने पर कुटुंब पालन के अर्थ उनके घरवालों को बराबर पेंशन मिलती रही। पिता के मरने पर पुत्र को उसका पद मिल जाया करता था। इस प्रकार

के कारण ऐसा हुआ है। एक जागीरदार ने सरकार को लिखा कि हमारी जागीर लेकर इसके बदले में दूसरी दी जाय क्योंकि इस जागीर मे भूतों का घर है। पहले त्रिंबक की देवी के सामने भैंसे मारे जाया करते थे पर पीछे यह प्रथा रोक दी गई। एक बार अकाल पड़ा तो इस प्रथा को फिर जारी कर दिया। पंढरपुर की मूर्त्ति पर छिपकली गिर गई। इस पर कई दिनो तक मंदिर का प्रायश्चित्त कराया गया।

धर्म की अवस्था।

गोरक्षा पर महाराष्ट्रों का बड़ा ध्यान था। कोई कसाई गौ मोल नहीं ले सकता था। जो मुसलमान गौ बेच देते थे उनकी सजा होती थी। एक ब्राह्मण ने गौ की पोंछ कटवा डाली इसपर वह जेहलखाने भेजा गया। महीनों तक यज्ञादि हुआ करते थे। यदि प्रजा की ओर से कोई यज्ञ होता तो सरकार से सहायता मिलती थी। पूना के चारों ओर मंदिर बनने लगे। २५० मंदिरों का उल्लेख पाया जाता है। हनुमानजी के ५२ मंदिर थे, श्री रामचद्रजी के १८, विष्णु के ९, विठोबा के ३४, बालाजी (श्रीकृष्ण) के १२, महादेवजी के ४०, गणपति के ३६।

सुधार की ओर रुचि।

पेशवाओं की बुद्धिमत्ता का उन सुधारों से परिचय मिलता है जो उन्होंने अपने समय में जारी किए। उस समय सदा मुसल्मानों से झगडा लगा रहता था। धोखे से या जबर्दस्ती कभी कभी हिंदू मुसलमान हो जाते थे। चार उन-

हरण मिलते हैं जिनमें ऐसे लोग बिरादरी की सम्मति से और सरकार की आज्ञा से फिर हिंदू जाति में ले लिए गए थे। पुताजी बदगर एक मरहठा था। मुगलों ने उसको क़ैद कर के जबरदस्ती मुसलमान बना लिया। एक वर्ष मुसलमानों के साथ रह कर वह बालाजी विश्वनाथ की सेना से आ मिला। उसने बिरादरी में मिलने की इच्छा प्रगट की। राजा शाहू की आज्ञा से बिरादरी ने उसे ले लिया। रास्ते उपनाम के एक कोकणस्थ ब्राह्मण को हैदर ने अपनी सेना मे नजरबद रखा। अपनी जान बचाने के लिये उसको मुसलमानी ढग से रहना पड़ता था। उसको भी सरकार की आज्ञा से बिरादरी ने ले लिया। नागर जिले में एक ब्राह्मण था वह धोखे से मुसलमान हो गया था। उसी प्रकार पैठण मे (जो अब निजाम की रियासत मे है) एक ब्राह्मण रोगग्रस्त रहता था। उसको यह विश्वास दिलाया गया कि तुम मुसलमान हो जाने पर अच्छे हो जाओगे। वह मुसलमान हो गया परतु पीछे बहुत पछताया। इन दोनों ब्राह्मणों को पडितों की सम्मति से और राजाज्ञा से बिरादरी ने फिर मिला लिया।

पेशवाओं के समय में मदिरा का बनाना और बेचना बिल्कुल मना था। इस सिद्धात पर वे बडे दृढ थे। परतु जब उन्होंने पुर्तगालवालों से बेसीन, चौल और अन्य स्थान जीते और वहाँ के कोली इत्यादि जातियों ने प्रार्थना की कि उनको शराब पीने की आज्ञा मिले तब केवल उन्हीं जातियों के लिये आज्ञा प्रदान की गई। इन जातियों और अन्य छोटी जातियों के अतिरिक्त कोई शराब नहीं पी सकता था।

ब्राह्मणों, प्रभु जाति के लोगों और सरकारी कर्मचारियों को आज्ञा थी कि यदि इनमें से कोई भी मदिरा पान करेगा तो उसकी कड़ी सज़ा होगी। नासिक के कई ब्राह्मणों पर, जो धर्माधिकारी थे, कुछ संदेह था कि वे मदिरा पान करते हैं। जब उनसे प्रश्न किया गया तब वे लड़ने पर तय्यार हुए। वे क़िले में क़ैद कर दिए गए। खेड़ ताल्लुक़ा में एक धनी मरहठा रहता था। उसको एक बार चितौनी दी गई कि तुम मादक वस्तुओं का प्रयोग छोड़ो, परंतु उसने कुछ परवाह नहीं की। इसपर उसकी आधी ज़मीन ज़ब्त कर ली गई।

दूसरे बाजीराव के समय में यदि कोई लड़कीवाला रुपया लेकर लड़की का विवाह करता तो उसको दंड मिलता और साथ ही उनकी भी सज़ा होती जो रुपया देता और जो बीच में पड़ कर विवाह कराता। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि विवाह तै हो गया और पेशवा सरकार ने उसको तोड़ दिया। एक बार सरकार को मालूम हुआ कि एक कोढ़ी लड़के का विवाह एक लड़की से निश्चय हुआ है तुरंत राजाज्ञा से वह विवाह बंद करा दिया गया। सदाशिवराव भाऊ का पानीपत की लड़ाई के बाद कहीं पता नहीं लगा। कोई नहीं जानता था कि वे कहाँ चल दिए। ऐसी अवस्था में लोग यही अनुमान करने लगे कि वे लड़ाई में मारे गए। पेशवा सरकार की आज्ञा हुई कि उनकी स्त्री विधवा न मानी जाय। २१ वर्ष तक वह जीती रही। उसकी मृत्यु के उपरांत पति और पत्नी दोनों का अंत्येष्टि संस्कार एक साथ हुआ। नारायण राव पेशवा के मरने पर भी उनकी स्त्री को सिर नहीं मुड़वाना

पड़ा। यह प्रसिद्ध है कि परशुराम भाऊ पटवर्धन अपनी विधवा कन्या के विवाह का प्रबन्ध पण्डितों की सम्मति से कर रहा था। जब पेशवा को समाचार मिला उन्होंने इसका कुछ भी विरोध नहीं किया, परन्तु भाऊ ने घर की स्त्रियों के विरोध के कारण स्वयं अपने प्रस्ताव को रोक लिया। सुनारों ने एक बार आन्दोलन किया कि उनके घर की पूजा पाठ उनकी बिरादरी ही के लोग कराया करें। पूना के जोशी ब्राह्मणों ने इसका घोर विरोध किया। पेशवा सरकार ने सुनारों के पक्ष में फैसला दिया। कुम्हार लोग चाहते थे कि विवाह के समय उनके यहाँ दुल्हा और दुलहिन घोड़े पर चढ़ कर निकलें। इसपर लोहार और बढ़ई विरुद्ध खड़े हुए। सरकार ने कुम्हारों को अपनी इच्छा पूरी करने की आज्ञा दी। दूसरे बाजीराव ने प्रभु लोगों को यज्ञोपवीत धारण करने और संस्कारों के समय वेदमन्त्रों का उच्चारण करने की आज्ञा दी। कोकण के रहने-वाले एक कलवार ने गुजरात के रहनेवाले कलवार के घर अपनी लड़की ब्याह दी। यह नई बात थी। वह बेचारा जातिच्युत कर दिया गया। उसने सरकार में फरयाद की, हुक्म हुआ कि वह बिरादरी में मिला लिया जाय। पहले बाजीराव का अपना विवाह भी देशस्थ कुटुम्ब में हुआ था जो नियम विरुद्ध था।

रानडे लिखते हैं "विचारणीय यह नहीं है कि ऐसी बातों में सफलता कितनी हुई। हमको देखना यह है कि उस समय के हमारे देशी शासक लोगों को इन बातों में अनुराग था और उस समय की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के

संबंध में जो आज्ञाएँ उन्होंने दी थीं उनसे कितनी उदारता प्रगट होती है ”।

CURRENCIES AND MINTS UNER MAHRATTA RULE.

महाराष्ट्र राज्य के सिक्के और टकसाल

माहराष्ट्र राज्य के अभ्युदय संबंधी पुस्तक में ३२४ पृष्ठ हैं जिन में से २५४ रानडे के लिखे हुए हैं और शेष काशीनाथ त्रिंबक तैलंग के। सिक्कों और टकसालों संबंधी लेख केवल १२ पृष्ठों का है। कृष्णजी अनंत सभासद ने शिवाजी के समय का इतिहास (बखर) लिखा है। यह ग्रंथ कई सौ वर्ष पुराना है। इससे मालूम होता है कि १७ वीं शताब्दी में २६ प्रकार के स्वर्ण सिक्के भिन्न भिन्न मोल और तौल के भारत के दक्षिण भाग में प्रचलित थे। इनमें से कुछ सिक्कों पर विजयनगर राज्य के जो सोलहवीं शताब्दी में नाश हो चुका था राजाओं के नाम थे जैसे, शिवराय, कृष्णराय, राम राय, इत्यादि। 'सभासद' ऐसे सिक्कों के नाम भी लिखता है जो स्थान विशेष के नाम से प्रचलित थे जैसे तंजोर, धारवाड़, वेलोर, रामनाथपुरी इत्यादि। मुसलमान राजाओं ने दक्षिण प्रांत जीतने के बाद अपने सिक्के जारी किए जो सोने और चाँदी के थे जिनको 'सभासद' शाही और पादशाही सिक्के लिखता है। बात यह है कि मुलसमान राजाओं ने अपने सिक्के चलाने पर भी पुराने सिक्कों का प्रचार बंद नहीं किया, इसी प्रकार शिवाजी के राज्य में आदिलशाही और

निज़ामशाही सिक्के चलते थे। भारत के उत्तरीय भाग में चाँदी के सिक्कों और दक्षिणी भाग में सोने के सिक्कों का प्रचार अधिक था। शिवाजी के समय के जितने दान-पत्र अथवा सनदें मिली हैं उनमें रुपयों का नाम नहीं है, सोने के सिक्कों का नाम है। यही हाल पेशवाओं के समय की सनदों का है। करनाटक की सरकार और पेशवा लोग मालगुज़ारी की तशखीस सोने के सिक्कों में करते थे और ख़ज़ाने में जमा भी सोने ही के सिक्के किए जाते थे। १८ वीं शताब्दी के अंत में जब टीपू की रियासत का बटवारा होने लगा तब उसकी आमदनी का हिसाब सोने के सिक्कों में लगाया गया था। १६६४ में पिता की मृत्यु के उपरांत जब शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण की उस समय उन्होंने रायगढ़ में टकसाल स्थापित किया और ताँबे और चाँदी के सिक्के ढलवाए। ताँबे के सिक्के के एक ओर "श्री राज शिव" और दूसरी ओर "छत्रपति" खुदा हुआ था। यह शिवराये पैसे कहलाते थे। शाहू और रामराज ने सितारा में, संभाजी और उसके उत्तराधिकारियों ने कोल्हापुर में अपने नाम के पैसे ढलवाए परंतु डेढ़ सौ बरस तक इन सब पैसों को लोग शिवराये पैसे ही कहते रहे। डबल पैसे भी ढाले जाते थे। पैसा दस मासे का था और डबल बाईस मासे का। पैसे से कम दाम का कोई सिक्का नहीं था। हाँ, कौड़ियाँ खूब चलती थीं। फ़ारसी अक्षर खुदे हुए पैसे भी मिलते हैं परंतु प्रचार देवनागरी अक्षरवालों का ही अधिक था। उस समय के जितने पैसे मिलते हैं उनमें लेख की भिन्नता पाई जाती है। किसी पर 'शिव' है, किसी पर

'शीव' है। 'सिव' और 'सीव' भी मिलते हैं। "श्री राजा शिव छत्रपति" मे 'पति' और 'पती' दोनों प्रकार से लिखे हुए सिक्के मिलते हैं। पहले विद्वानों को यह भ्रम हुआ था कि इस प्रकार का भेद इन सिक्कों के भिन्न भिन्न स्थानों मे ढाले जाने के कारण हो परंतु रानडे लिखते हैं कि अनुसंधान करने से सतोष-जनक प्रमाण मिले हैं कि यह उन सुनारों की मूर्खता से होता था जो टकसालों मे ठप्पा बनाते थे।

शिवाजी के समय में जो रुपए ढाले जाते थे उन पर शायद फारसी अक्षर रहते थे। पेशवाओं और अन्य महाराष्ट्र राजाओं के समय के चाँदी के सिक्कों पर फ़ारसी ही अक्षर मिलते हैं। उन पर दिल्ली के बादशाह का नाम और उनके राज्य का समय छपा रहता था।

शिवाजी के सिक्कों पर दो प्रकार के संस्कृत लेख भी मिलते हैं। (१) शहासूनोरियं मुद्रा शिवराजस्य राजते। (२) शहासुतस्य मुद्रेयं शिवराजस्य राजते।

शिवाजी के पुत्र संभाजी के समय में टकसाल बद हो गया। शाहू के गद्दी पर बैठने के उपरांत सातारा मे टकसाल खोला गया, जहाँ सोने चाँदी और ताँबे के सिक्के फिर ढलने लगे। काम बढ़ जाने पर 'रहिमतपुर' में पैसों के लिये दूसरा टकसाल चलाया गया।

जब शाहू सातारा में थे तब घर की फूट के कारण तारा-बाई ने कोल्हापुर में दूसरी रियासत स्थापित कर ली थी। कोल्हापुर के राजा पहले पन्हळा स्थान में रहते थे। तारा-

बाई के पुत्र संभाजी ने यहाँ टकसाल बना लिया। जो रुपए यहाँ से निकलते थे "संभू रुपए" कहलाते थे। जब कोल्हापुर राजधानी बनाई गई तब टकसाल भी यहीं आ गया। १८५० ई० तक इसमें सिक्के बनते रहे। १८६० में इसके बनाए हुए सब सिक्के बंबई बैंक में अंग्रेज़ी सर्कार की आज्ञा से भेज दिए गए। सातारा और कोल्हापुर के टकसाल सरकारी नहीं थे। इनको वहाँ के साहूकारों ने चलाया था। ये साहूकार सरकार को ऋण दिया करते थे। परंतु सिक्कों को प्रचलित करने से पहले राजा की आज्ञा लेनी पड़ती थी। जो चाहे, सोना चाँदी देकर सिक्के नहीं बनवा सकता था। इन साहूकारों के नाम भी रानडे ने दिए हैं। टकसाल खोलने के लिये पेशवाओं से विशेष आज्ञा लेनी पड़ती थी। जितने सिक्के बनते थे उनमें से कुछ भाग सरकार को देना पड़ता था। १७६५ में जब धारवाड़ में मुख्य टकसाल खोला गया उस समय १६ स्थानों में टकसाल थे जो बंद कर दिए गए। परंतु आगे चलकर भिन्न भिन्न स्थानों में फिर नए नए टकसाल खुलने लगे। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की, आज कल की भाँति, सुगमता नहीं थी। इस लिये टकसालों की संख्या अधिक रहा करती थी।

छोटे जागीरदारों ने अपने अपने टकसाल अलग खोल दिए थे। गुजरात, मध्य भारत और मध्यदेश में महाराष्ट्र राजाओं ने अपने टकसाल चलाए थे। रानडे ने इन सबके नाम सौल इत्यादि दिए हैं। अंत में लिखा है—

"महाराष्ट्र राज्य के सिक्के और टकसालों पर जो कुछ

कहा गया है उनसे हमें वर्त्तमान काल मे शिक्षा मिलती है; क्योंकि अंग्रेज़ी राज्य के कारण भारत में बहुत कुछ परिवर्त्तन हुआ है। यह स्पष्ट है कि जिस समय में एक स्थान से दूसरे स्थान में आना जाना कठिन था और रियासतों की अधिकता थी सिक्के की बहुतायत की आवश्यकता थी। इसके चिह्न भी निश्चयपूर्वक पाए जाते हैं कि यह बहुतायत शासन-प्रणाली के ढीले हो जाने पर हुई थी। दूसरी उससे महत्व की बात जो हमें इस समय का इतिहास बतलाता है वह इस कथन के संबंध में है कि भारत ग़रीब देश है इस लिये यहाँ सोने के सिक्के नहीं चल सकते। यह बात ठीक नहीं है, जैसा महाराष्ट्र राज्य के टकसालों के इतिहास से मालूम होता है। उस समय में सोने के सिक्के बनते थे और खूब चलते थे, यद्यपि चाँदी के सिक्कों के हिसाब, उनका क्या भाव था इसको कभी नियमबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया। गत (अठारहवीं) शताब्दी मे सोने और चाँदी का भाव निश्चित था और इनमें १५३ और १ का भेद था जो उस हिसाब से आश्चर्य की समानता रखता है, जो आज कल के सोने का सिक्का चलाने के पक्षपाती रखना चाहते हैं। यह समानता स्मरण रखने योग्य है क्योंकि इससे मालूम होता है कि नवीन प्रस्ताव ऐसी कठिनाई उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं जैसा बहुत से लोग समझ बैठे हैं। जो इस देश में चाँदी ही के सिक्के के पक्षपाती हैं वे भी मुग़ल और महाराष्ट्र शासकों के इतिहास के पढ़ने से लाभ उठा सकते हैं। कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता कि जब सौ (१००) वर्ष पहले सोने के सिक्कों

की माँग थी तब इस समय जब कि व्यापार और बर्कों के काम का विस्तार इतना बढ़ गया है क्यों न हो। इस विषय को हम यहाँ उन लोगों के लिये छोड़ देते हैं जिन्होंने भारतीय अर्थ शास्त्र का विशेष मनन किया है। जो बातें यहाँ बतलाई गई हैं यदि उनसे उन लोगों के परिश्रम में कुछ सहायता मिले तो मैं यही चाहता था कि इस रूखे विषय में वर्त्तमान काल में कुछ अनुराग मालूम हो जिसकी ओर मैंने इस सस्था के सभासदों का ध्यान दिलाया है"।

यह लेख रायल एशियाटिक सोसायटी की बंबई की शाखा सभा में १६ फर्वरी १८९९ को पढ़ा गया था। उस समय से अब सिक्कों संबधी अनुसधान बहुत अधिक हो रहा है। महाराष्ट्र राज्यों के अब बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार सोने का सिक्का चलाने के विषय पर भी रानडे के समय के उपरांत सरकार, विद्वानों और व्यापारियों ने बहुत कुछ विचार प्रगट किए हैं।

महाराष्ट्र इतिहास सबधी रानडे की इन तीन पुस्तकों का यहाँ केवल बहुत सक्षिप्त सार लिखा गया है। इतिहासप्रिय लोगों को इन ग्रन्थों में बड़ी रोचक बातें मिलती हैं। इनके पढ़ने से देशाभिमान, स्वजातीय प्रेम और भविष्य के लिये आशाएँ उत्पन्न होती हैं।

ESSAYS ON INDIAN ECONOMICS

रानडे के ग्रथों में यह बड़े महत्व का है। यह ग्रंथ चिर-

स्मरणीय रहेगा। यह १८९९ में छपा था, इसमें भारतीय आर्थिक अवस्था पर उनके १२ निबंधों का संग्रह है। ये निबंध भिन्न भिन्न अवसरों पर लिखे गए थे। कई औद्योगिक महासभा के अधिवेशनों मे व्याख्यान रूप से पढ़े गए थे। ये निबंध निम्नलिखित विषयों पर हैं—

(१) भारतीय अर्थ शास्त्र।

(२) भारतवर्ष में लेन देन की प्रणाली का पुनः संगठन।

(३) डच लोगों की जावा आदि स्थानों में कृषि प्रणाली।

(४) भारतीय कारीगरी की वर्तमान अवस्था और उसका भविष्य।

(५) भारतीय कुलियों का विदेश भेजा जाना।

(६) लोहे का व्यापार।

(७) औद्योगिक महासभा।

(८) मनुष्य संख्या की गिनती की ३० वर्ष की समालोचना।

(९) विलायत और भारत में स्थानिक स्वराज्य।

(१०) रूस के असामियों की स्वतंत्रता।

(११) प्रशिया देश के भूमि संबंधी नियम और बंगाल का खेती संबंधी कानून।

(१२) भूमि क्रय संबंधी भारत में अंग्रेज़ी सरकार के नियम।

विषय सूची से ही रानडे के परिश्रम और विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है। उनके विचारों का सारांश लिखना कठिन है। यह ग्रंथ आद्योपांत पढ़ने योग्य है। इसके छपने

पर प्राय सभी अँग्रेज और हिंदुस्तानी पत्र सपादकों ने इसकी प्रशसा की थी। स्वतत्र विचार की पुस्तक होने पर भी किसी किसी विश्वविद्यालय में यह एम ए के अर्थ शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में रखी गई थी। इस शास्त्र पर एक भारत वासी का लिखा हुआ यह पहला ग्रथ है। अब इस प्रकार के कई ग्रथ छपते जाते हैं। प्राय सभी अँग्रेज अर्थवेत्ता लोगों की सम्मति है कि फ्रीट्रेड से भारत का उपकार है अर्थात् जिस देश के व्यापारी चाहें अपना माल यहाँ भेजकर बेच सकते हैं। रानडे ने इस ग्रथ म इसका विरोध किया है। उन्होंने बतलाया है कि अर्थ शास्त्र के सिद्धात अन्य शास्त्रों के सिद्धातों की तरह से जटिल और दृढ़ नहीं हैं। ये देश और काल की अवस्था से बदला करते हैं। उनकी सम्मति थी कि भारतवर्ष में नए कारखाने खुलने चाहिएँ, विदेश से माल आना बद होना चाहिए, और खेती के उन्नत करने म सरकार से सहायता मिलनी चाहिए। औद्योगिक सभाएँ और प्रदर्शनियों की आवश्यकता पर भी रानडे ने बहुत जोर दिया था।

एक निबध में उन्होंने लिखा है—"हमारी अवस्था शोचनीय है। हमारे देश मे खनिज पदार्थों की कमी नहीं है। परमेश्वर ने हम आर्थिक सामान इतना दिया है जो कभी कम होनेवाला नहीं, प्रकृति ने हमारे ऊपर हर प्रकार से कृपा की है फिर भी अँग्रेजी राज्य में हमारी आर्थिक अवस्था ऐसी है जैसी न होनी चाहिए। दिन पर दिन अवस्था बिगड़ रहा है। सारे देश पर ऐसी घोर दरिद्रता (जो बढ़ रही

है) छाई हुई है जैसी कि इतने विस्तार के साथ संसार ने कभी नहीं देखी थी। अच्छी फ़सिल मे ग़रीबी क्लेश और दारिद्र्य नहीं होता परंतु अच्छी फ़सिल लगातार नहीं रहती, पहले की अपेक्षा अकाल अधिक होते हैं। देश के किसी न किसी भाग में वर्षा न होने के कारण लोग भूखों मरने लगते हैं। इस के अनेक कारण हैं—(१) समस्त देश मे गरीबी का कठिन रूप में दूर तक फैलना और बढ़ता जाना (२) छोटी जातियों मे घोर कष्ट का बढ़ता जाना और (३) जनसमूह में आर्थिक कष्ट के रोकने की सामर्थ्य का अभाव "।

लार्ड डफरिन ने भारत से विदा होने से पहले इस आर्थिक दुर्दशा को दूर करने का उद्योग करने की चेष्टा करने के लिये शिक्षित भारतवासियों को सलाह दी थी। रानडे ने उसी वर्ष कांग्रेसवालों का कलकत्ते के अधिवेशन में इस ओर ध्यान दिलाया। इसके अनंतर उन्होंने मई १८९० मे औद्योगिक महासभा की नींव डाली। इस महासभा के पहले अधिवेशन में जो व्याख्यान उन्होंने दिया था वह इस पुस्तक का सातवाँ निबंध है। इसमें उन्होंने लोगों के औद्योगिक कर्त्तव्यों को बतलाया है। सरकारी सहायता के संबंध मे उन्होंने यह कहा है–

" हम लोग एक ओर उद्योग करें, दूसरी ओर सरकार हमको बंकों के खोलने में, लेन देन की वसूली में, नए उद्योगों के लिये थोड़े ब्याज पर उधार अथवा अन्य प्रकार से धन देकर नए कारखाने खोलने का रास्ता बतलाने में, विदेशियों

के यहाँ आने और यहाँवालों को विदेश जाने में, कला कौशल सबधी पाठशालाओं के खोलने मे, आवश्यक सामग्री के इकट्ठा करने में या उसके इस देश में पैदा करने में सहायता कर सकती है।"

A Revenue Mannual of the British Empire in India

स० १८७७ मे इस नाम की पुस्तक रानडे ने प्रकाशित की थी। भारतीय अर्थ सबधी विषयों पर साक्षी लेने के लिये विलायत की पार्लमेंट ने एक कमेटी बैठाई थी। उसके और अन्य सरकारी रिपोर्टों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई थी। इसमें सरकारी आय किन किन विभागों से होती है इस पर बड़ी योग्यता से निबंध लिखा गया है। इसकी प्रशसा १४ अप्रैल १८७७ के इंग्लिशमैन पत्र, उसी सन के २ अप्रैल के हिंदू पेट्रियट, १० अप्रैल के टाइम्स आफ इंडिया आदि पत्रों ने की थी।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त रानडे ने अनेक छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित की थीं जिनके नाम जहाँ तक मालूम हैं लिख देना पर्याप्त होगा—Statistics of Civil Justice in the Bombay Presidency. *Statistics of Criminal* Justice in the Bombay Presidency. प० विष्णु परशुराम शास्त्री का सक्षिप्त चरित्र (अंग्रेज़ी), महाराष्ट्र साहित्य की आलोचना और उन्नति पर तीन पुस्तकें (अंग्रेज़ी), भारतीय व्यापार पर दो व्याख्यान (महाराष्ट्री)।

एक ईश्वर को माननेवाले का मत (अंग्रेज़ी)।

हिंदू विधवाओं के पुनर्विवाह पर शास्त्रों के प्रमाण (अंग्रेजी)।

भिन्न भिन्न विषयों पर उनके लेख और व्याख्यान भी छपते रहते थे जिनमें से निम्न लिखित प्रसिद्ध हैं।

खेतिहर लोगों की अवस्था और उसका सुधार।

रियासतों की शासन प्रणाली।

मिस्टर फौसेट के भारतीय अर्थ संबंधी तीन लेखों की समालोचना।

सर सालार जंग का शासन।

बंबई प्रांत में हिंदू और मुसलमानों की धार्मिक संस्थाए।

मिस्टर इलियट की 'रुलर्स आफ बरोदा' पुस्तक की समालोचना।

Parliamentary Committee on India Public Works.

खेती संबंधी बक।

दादा भाई नौरोजी के भारतीय दारिद्रता संबंधी पुस्तक की समालोचना।

प्रारंभिक शिक्षा और देशी पाठशालाएँ।

बंबई प्रात के जंगलो की रक्षा।

सर जेम्स फर्गसन के शासन की समालोचना।

ज़बरदस्ती टीका लगवाना।

१८९१ की जनसंख्या की रिपोर्ट।

Decentralization of India Finance.

भारतवासियों की विदेश मे कुली प्रथा।

बी-ए, एम-ए लोगों की अधिक मृत्यु के कारण।
यूनिवर्सिटी सुधार।
Butler's Method of Ethics
मिस्टर वैद्य की पुस्तक की भूमिका।
हिंदुओं में विवाह का समय।
Augustus Mongredien के Free Trade and English Commerce की समालोचना।
सामाजिक विषयों में सरकारी क़ानून।
राजा राम मोहन राय।
तैलग School of thought पुनरुद्धार और सुधार।
सौ वर्ष पहले दक्षिणी भारत की अवस्था।
Hindu Protestantism
मैं न हिंदू हूँ न मुसलमान।
कांग्रेस और कानफ़रेंस।
वशिष्ठ और विश्वामित्र।

इनमे से अनेक लेखों को अब धीरे धीरे पुस्तक रूप में छापने का प्रबंध हो रहा है।

इन लेखो में रानडे के विचार-रत्न मिलते हैं। उनमे अद्वितीय भाषा लावण्य और ओज है। सब लेख समयानुकूल हैं और उनमें देश हितकारी चर्चा है।

---

(१२) स्वभाव और चरित्र।

रानडे का स्वभाव सात्विक था। धैर्य, क्षमा, निरग्रहता इत्यादि गुणों की वे खान थे परंतु इसके साथ ही असहाय के

साथ सहानुभूति, रात दिन परिश्रम करने की वान इत्यादि गुण भी उनमें थे। भारतवासी आज कल अच्छा आदमी प्रायः उसीको समझते हैं जो दुनिया की झंझटों से अपने को दूर रक्खे, जो हर एक की हाँ में हाँ मिला दे, जो अन्याय और अत्याचार देख कर भी विचलित न हो, जो परंपरागत प्रणाली मे अपने को डाल दे और इस बात पर विचार न करे कि इस प्रणाली में क्या दोष है। हमारे देश मे जो विद्वान हैं वे पठन-पाठन ही में अपना जीवन बिता देते हैं। यदि किसीने बहुत घेरा तो दो एक सभा सोसायटी मे आ कर उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण कर लिया। इसके विपरीत जो लोग देश-हित के कामों मे लगे रहते हैं उन्हें पढ़ने-लिखने का समय ही नहीं मिलता। जो एक सभा में काम करता है उसको सब सभावाले अपनी तरफ खींचते हैं। इसका परिणाम यह है कि जो विचारशील हैं उनमें उद्योग का अभाव है और जो उद्योगी हैं वे मननशील नहीं हैं। रानडे उन थोडे भारतवासियों में से थे जिनमें विद्वानों के गुणों अर्थात् विद्या-भिरुचि, पितृभक्ति, ईश्वर में अगाध विश्वास और गंभीरता के साथ कार्य-कुशलता, देशहित और परिश्रमादि गुण भी थे।

ईश्वर भक्ति।

रानडे तीन चार बजे प्रातःकाल उठ जाते और उसी समय अपनी धर्मपत्नी को भी उठा देते। रमाबाई कोई पुस्तक लेकर श्लोक तथा पदादि पढ़ने लगतीं। रमाबाई लिखती हैं—"आप कभी कभी गद्गद हो कर चुटकी या ताली

बजाने लगते। प्रातःकाल के उजाले में, आपका भक्तिपूर्ण मुख बहुत ही मनोहर मालूम होता और आपके प्रति आप ही आप प्रेम और पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती। मेरे मन में आता कि मैं अपने संबंध और सांसारिक दृष्टि ही से यह सब देख रही हूँ तो भी यहाँ सामर्थ्य और दैवी भाग अधिक हैं परंतु मेरे ये विचार अधिक समय तक न ठहरते। इस विषय में आप से पूछने के लिये मैं सिर उठाती पर ज्योंही आप से मेरी दृष्टि मिलती त्योंही मेरे सारे विचार बालू की भीति के समान ढह जाते।"

यह तो नित्य की बात थी। ताली और चुटकी बजा कर तुकाराम के अभंगों का भजन करते करते कभी मुँह का उच्चारण बंद हो जाता, आँख से आँसुओं की धारा बहने लगती, यह भी ध्यान न रहता कि भजन के दोनों चरणों की तुक भी मिलती है या नहीं। जिस समय मन की स्थिति जैसी होती उस समय वे वैसे ही अभंग कहते। रमाबाई लिखती हैं—"मैं कभी कभी कहती – 'इन सब नवीन अभंगों की एक पुस्तक बनानी चाहिए। कल्याण शिष्य की तरह मैं भी ये सब अभंग लिख डालूँ तो अच्छा हो।' इस पर उत्तर मिलता—"हम भोले आदमी ठहरे। यमक और ताल सुर का न तो हमें ज्ञान है और न उसकी आवश्यकता ही है। जिससे हम यह सब कहते हैं वह सब समझता है। उसका ध्यान इन सब ऊपरी बातों की ओर नहीं जाता।" रानडे की इस समय की अवस्था देख कर बड़े बड़े लोग गद्गद हो जाते थे। गोखले कहते हैं—"१८९७ की अमरावती कांग्रेस से

लौटते हुए रेल के कमरे में केवल रानडे और मैं था। ४ बजे प्रातःकाल गाने की आवाज़ सुनकर यकायक मेरी नींद खुली। मैंने देखा कि रानडे उठ कर बैठे हैं और तुकाराम के दो अभंगों को ताली बजा बजा कर बार बार गा रहे हैं। गला तो अच्छा था नहीं परंतु जिस प्रेम से वे गा रहे थे, वह इतना अधिक था कि मैं भी गद्गद हो गया जिससे मुझे भी उठकर बैठ जाना पड़ा। जो अभंग वे गा रहे थे, वे ये थेः—

जे कां रंजले गांजले। त्यासी ह्मणो जो आपुले।
तोचि साधू ओळखावा। देव तेथेंचि जाणावा॥
करिं मस्तक ठेंगणा। लागें संतांच्या चरणा।
जरि व्हावा तुज देव। तरि हा सुलभ उपाय॥

" जब मैं बैठा हुआ इन भजनों को सुन रहा था मेरा मन रानडे के जीवन की ओर गया। मैंने सोचा कि जो उपदेश इन भजनों में है उस पर चलने की रानडे किस प्रकार निरंतर चेष्टा करते हैं और इस उपदेश से कितनी साधारण और फिर भी कितनी उच्च शिक्षा जीवन के नियम संबंधी मिलती है। मेरे जीवन में यह अनमोल क्षण था। वह दृश्य मेरी स्मृति से कभी दूर नहीं होगा। "

प्रार्थना समाज में आप कभी कभी उपासना कराते थे। रमाबाई लिखती हैं—"आपकी उपासना इतनी गंभीर, भावपूर्ण और प्रेममयी होती थी कि सुननेवाला उसे सुनकर धन्य धन्य कह उठता था। उतनी देर के लिये शरीर की सुधि भूल कर ऐसा मालूम होता था मानो आप प्रत्यक्ष देवता से बोल रहे हैं और वह सब बातें सुन रहा है। कभी कभी

शांत और भक्तिपूर्ण भाव के कारण आपके मुख पर इतना तेज आ जाता था कि मैं कई मिनटों तक पागलों की तरह टकटकी लगाकर आप के मुख की ओर देखती रह जाती थी। कभी कभी यह विचार कर कि देखनेवाले लोग क्या कहेंगे, थोड़ी देर के लिये दृष्टि नीचे हो जाती, परंतु फिर तुरंत आप ही आप वह अपने पूर्व कृत्य में लग जाती।" ये एक सच्ची स्त्री के सच्चे वाक्य हैं। पतिव्रता रमाबाई आगे लिखती हैं-"अब तक इस पूर्ण निराशा की अवस्था में (रानडे की मृत्यु के उपरांत) भी जब कभी वह समय और सुख याद आ जाता है, तब अपनी वर्त्तमान हीनावस्था भूल कर उसी समय का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और क्षण भर आनंद मिल जाता है, बहुत देर तक उसी मूर्ति का ध्यान और चिंतन होता रहता है और यदि किसी कारणवश उसमें कभी विघ्न हो जाय तो उस दिन मन को चैन नहीं मिलता।"

उपासना आप प्रायः मराठी भाषा में कराया करते थे। आप सर्वदा चेष्टा करते थे कि भाषा सरल हो और भाव सब के समझने योग्य हों। उपासना के बाद कभी कभी वे रमाबाई से पूछते कि आज तुमने क्या समझा। यदि उस दिन का विषय गूढ़ होता और वे न समझतीं तो कह देतीं। तब आप कहते "आज की उपासना ठीक नहीं हुई, हमने यह समझ रक्खा है कि जो उपासना तुम्हारी समझ में आ जाय वही अच्छी हुई और जिसे तुम न समझ सको वह दुर्बोध हुई।"

इन उपासनाओं में प्रायः आप तुकाराम, नामदेव इत्यादि का कोई पद ले लेते थे और उसकी व्याख्या करते थे। बहुत

अच्छा हो यदि वर्त्तमान सुधार सभाओं के हिंदी भापाभापी नेता भी सूर और तुलसी, कबीर और नानक के पदों के आश्रय पर अपने भक्तिपूर्ण विचार प्रगट किया करें। यदि ऐसा हो तो उनकी उपासनाएँ ऐसी निरस न हुआ करें जैसी वे बहुधा होती हैं। तुकाराम ने कहा है "मेरी मृत्यु को मौत आ गई और इससे मैं अमर हो गया।" एक दिन का आपका विपय यही था। मृत्यु क्या है, आपने उसमें कहा था—"एक मृत्यु वह है जिसमें हम मर जाते हैं और एक वह जिसमें मृत्यु तो मर जाती है और हम जीवित रहते हैं। वह संत जो ईश्वर आराधना अथवा उपदेश करने में अपने शारीरिक अस्तित्व को भूल जाता है और जिसकी आत्मा तेजमयी हो जाती है; वह विद्यानुरागी जो अध्ययन मे अपने को भूल जाता है और जो कुछ वह अनुभव करता है वह केवल उस विपय की स्थिति और उत्तेजना है जिसपर वह मनन करता है; वह पुरुप जो किसी महान् कार्य के करने पर कटिबद्ध होता है और शारीरिक वेदनाओं के मध्य में भी अपने कष्ट को भूलकर कर्त्तव्य पालन करता चलता है और सर्वदा उसको अपने काम की ही धुन रहती है; ऐसे लोगों में मृत्यु ही मरती है परंतु वे जीवित रहते हैं। यह साधारण विश्वास कि शरीर छूट जाने को ही मृत्यु कहते हैं, मौत का सच्चा ख्याल नहीं है। हमारी मौत उसी क्षण आ जाती है जब हम हर समय शरीर और उसकी वासनाओं पर ध्यान रखने और नीच स्वार्थी जीवन निर्वाह करने लगते हैं।"

ईश्वरभक्ति बड़ी कठिन है। केवल शब्दों में ईश्वर को मानने से कोई पुरुष आस्तिक नहीं कहा जा सकता। भक्ति का प्रादुर्भाव मनुष्य जीवन में होना चाहिए। परंतु भक्ति रस में रँगे हुए वे महात्मा भी हैं जो ईश्वर पर तो दृढ और सच्चा विश्वास रखते हैं पर मनुष्य समाज का वे विश्वास नहीं करते। हर एक युग में ऐसे सिद्ध पुरुष होते हैं जिनका जीवन तो पवित्र होता है परंतु जिन्हें संसार की कमजोरियों के कारण दुःख होता है। इस लिये वे सब से अलग होकर विरक्त हो जाते हैं। उन्हें संसार मिथ्या मालूम होता है और वे उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य-समाज से वे दूर रहते हैं और उन्हें सामाजिक व्यवहारों में कुछ अनुराग नहीं रहता। परंतु रानडे की मानसिक वृत्ति इस प्रकार की नहीं थी। प्रार्थना समाज की एक उपासना में उन्होंने एक बेर कहा था—"कुछ लोगों का विश्वास है कि इस जीवन से पूर्व कोई जीवन नहीं था और इस जीवन के अनंतर भी कोई जीवन नहीं है। कुछ लोग यह कहते हैं कि संसार में यदि कोई बात अनादि है तो वह यह है कि हमारे पश्चात् हमारे वंशज मनुष्य संसार में रहेंगे, इसके अतिरिक्त कोई अनाशवान् जीवन नहीं है। दोनों में से कोई सिद्धांत भी संतोषजनक नहीं है। जब हम भोजन माँगते हैं दोनों हमें पाषाण देते हैं। हमें संतोष एक तीसरे ही सिद्धांत से मिलना चाहिए अर्थात् यहाँ अथवा आनेवाले जीवन में हमारे भाग में सुख ही सुख है परंतु यह तब ही हो सकता है जब हम अपने को अनाशवान् प्रकृति के मनुष्य मान कर कार्य करें।" आगे

चल कर उन्होंने उदाहरण स्वरूप अपने विश्वास को इस प्रकार स्पष्ट किया—"अभी थोड़े दिन हुए मैं भारत के उत्तरीय भाग में था। गंगा जी के तट पर खड़ा हुआ नदी के गौरवान्वित बहाव को देख कर मानों समाधि की अवस्था मे आगया। मैं इतना गद्‌गद हो गया, मेरा हृदय इतना प्रफुल्लित हो गया कि विवश मेरे मुँह से यह निकला—"धन्य है यह भारतभूमि।" उसी समय मेरे चित्त ने यह विचार आया—'क्या गंगा अनादि है ? किसी दिन यह भी लुप्त हो जाय।' मैंने मनही मन इस प्रकार की तर्कना की—'नहीं, हमारे सामने जल के परमाणु एक दूसरे से अलग हो जाँय और नाश हो जाँय परंतु बहाव इसी प्रकार रहेगा जिस प्रकार गत अनेक शताब्दियों से चला आया है। हमारे लिये कितनी बड़ी यह शिक्षा है। हम व्यक्ति गण समाज के परमाणु हैं और अवश्य लुप्त हो जाँयगे परंतु समाज रहेगा, इसका बहाव श्रीगंगा जी की तरह अनादि है। हमारा. जो प्रत्येक पीढ़ी के व्यक्ति गण है, यह धर्म है कि इस बहाव के गौरवान्वित करने में भाग लें।"

बात कभी नहीं काटते थे। जब तक वे जीते रहे उन्हीं को घर का मालिक समझते रहे। उनके पिता २५०) मासिक पाते थे, परंतु तीन सगे और दो रिश्ते के भाइयों के परिवारों का पालन पोषण, विवाहादि का सब व्यय वे ही करते थे, इसलिये वे ऋणी हो गए थे। रानडे सदराला होते ही उनको १५०) मासिक भेजने लगे। इसी समय रानडे ने एक मकान खरीदा। इनके कुटुंब में यह पहली जायदाद थी। इस लिये इनके पिता बहुत प्रसन्न हुए। बैनामे का मसविदा इनके पिता ने तैयार कराया और रानडे के पास देखने के लिये भेज दिया। आपने उस पर पेंसिल से लिख दिया—"मसविदा ठीक है परंतु मेरी इच्छा है कि बैनामे में मेरे स्थान पर आपका नाम रहे।" उनके पिता ने बहुत समझाया, कहा कि—"जगदंबा की कृपा से तुम्हीं ने हमारे कुल में यह स्थावर संपत्ति पहले पहल प्राप्त की है, इसलिये इसमें तुम्हारा ही नाम रहेगा।" रानडे ने कहा—"मैंने इसपर बहुत विचार किया है। आपके नाम से खरीद होने में अधिक शोभा है।" अंत में उनके पिता ने मकान अपने ही नाम खरीदा।

पिता के रोगग्रस्त होने पर आप उनकी बड़ी सेवा करते। मृत्यु के दो वर्ष पहले से वे कोल्हापुर में रहते थे। इस बीच में वे कई बेर बीमार हुए। रानडे ने एक बेर एक महीने की छुट्टी लेकर उनकी सेवा सुश्रूषा की। कुछ महीनों के बाद जब वे बहुत बीमार पड़े तब रानडे ने फिर दो महीने की छुट्टी ली। इस बेर उनके पिता की अवस्था बहुत खराब थी। छुट्टी बढ़वाने के लिये उन्हें पूना जो उन दिनों टाँगे से

३६ घंटे का रास्ता था जाना आवश्यक था। जब वे पूना जाने लगे तब उनके पिता बच्चों के समान रोने लगे। परंतु डाक्टरों के आश्वासन देने पर उन्होने इनको आने दिया। चलते समय उन्होने इनका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा– "यद्यपि डाक्टर साहब ने मुझे आशा दिलाई है तो भी मुझे अपने जीवन का अब भरोसा नहीं है, इसलिये शीघ्र लौट आना नहीं तो भेंट न होगी। अब गृहस्थी का सारा भार तुम्ही पर है।"

रानडे का उत्तर भारत-संतान के लिये अनुकरणीय है। उन्होंने कहा—"आप किसी प्रकार की चिंता न करें। मैं कभी पुत्रधर्म न छोडूँगा।"

इस वचन को उन्होंने सारी उम्र निबाहा। यद्यपि वे पिता की मृत्यु के समय न पहुँच सके पर गृहस्थी का भार अपने ऊपर लेकर सुधार के कार्य में कठिनाइयाँ उपस्थित कर लीं। उन्होंने अपने पिता का कई हज़ार का ऋण देकर सौतेली माँ, अपनी बहिन और भाइयों को बुलवा भेजा और सबको साथ रखने लगे। वे सौतेली माता का भी उतना ही आदर करते जितना अपनी जननी का करना चाहिए। बड़ी बहिन दुर्गा तक की बात कभी नहीं काटते थे। घर मे कभी कोई बात ऐसी न करते जिससे घरवालों को यह मालूम हो कि वे घर के बड़े हैं और उन्हीं के कारण गृहस्थी चलती है। यदि मतभेद की कोई बात हो तो उसपर बहस नहीं करते थे। अपना कर्त्तव्य अपने सिद्धांतों के अनुकूल पालन करने की चेष्टा किया करते थे। रमाबाई को भी उसी प्रकार करने का परामर्श किया

करते परन्तु किसी पर औरँगजेबी नहीं चलाते थे। पितृभक्ति और मातृभक्ति के कारण कई बेर कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती थीं जिनके दो एक उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

दक्षिण में पंडित विष्णु शास्त्री पुनर्विवाह के समर्थक थे। उन्होंने स्वयं अपना विवाह विधवा से किया था। उसी समय वे रानडे से मिलने आए। रानडे ने उनको सायंकाल भोजन करने के लिये निमंत्रित किया। कचहरी जाने से पहले वे अपनी बहन से भोजनादि का प्रबंध करने के लिये कह गए। उन दिनों उनके पिता जीवित थे। १२ बजे तक वे संध्या, ब्रह्मयज्ञ, जप, स्तोत्रपाठादि से निश्चित हुआ करते थे। १२ बजे के पीछे जब उनको मालूम हुआ कि विधवाविवाह प्रवर्त्तक उनके घर पर पदार्पण करेंगे तो उन्होंने अपनी स्त्री से कहा—' भोजन तो तुम बना देना पर परोसने न जाना।' नियत समय पर अतिथि आकर भोजन कर गए। उनके पिता जान बूझ कर ११ बजे रात को आए और बिना भोजन किएही सो गए। दूसरे दिन सबेरे ही घर गृहस्थी लेकर वे डेरा डंडा उठाने की तैयारी करने लगे। जब रानडे ने यह सब हाल सुना तब वे सबेरे ही अपने पिता के सामने जा कर चुपचाप एक खंभे से लग कर खड़े हो गए। एक घंटा इसी प्रकार हो गया परन्तु दोनों में बात चीत नहीं हुई। तब उनके पिता ने उनको बैठ जाने के लिये कहा। उन्होंने उत्तर दिया—" यदि आप यहाँ से चले जाने का विचार छोड़ दें तो मैं बैठ जाऊँ। यदि आप लोग चले जाँयगे तो मेरा यहाँ कौन है ? मैं भी आप लोगों के साथ ही चलूँगा। यदि

मुझे मालूम होता कि कल की बात के लिये आप इतना क्रोध करेंगे तो मैं कदापि ऐसा न करता।" इसी प्रकार बात चीत हो ही रही थी कि इतने में दर्वाजे पर इन लोगों को ले जाने के लिये गाड़ी आ कर खड़ी हो गई। इसपर रानडे ने दुःखी हो कर कहा—"अंत मे आप लोगों का जाना निश्चय हो गया। आप लोग मुझे यहाँ छोड़ कर चले जाँयगे। जिस दिन मेरी माता मरीं उस दिन मैं अनाथ हो गया।" यह कह कर आप ऊपर चले गए। उनके पिता ने फिर सोच समझ कर जाने का विचार परित्याग कर दिया।

इसी तरह एक दिन सौतेली माँ से भी क्लेश की नौबत आ गई थी। एक विद्यार्थी जिसकी ये सहायता किया करते थे और जो दूकानदारों को सौदे इत्यादि का रुपया देने जाता था, व्यापारियों को रुपया देने के बदले आप खा गया। दशहरे का दिन था। उनकी माँ और बहन ने सोचा था कि यह बात उनसे भोजन के उपरांत कही जाय। परंतु रमाबाई ने बिना विचारे इस बात को उनसे पहले ही कह दिया। इस पर उनकी बहन रमाबाई पर बहुत बिगड़ीं और उनकी माँ ने कहा—"अब तक तो इसको चुगली की आदत नहीं थी, नित्य नया गुण निकलता आता है। सभा मे यह जाय, अँग्रेजी यह पढ़े, घर में आने जानेवाले लोग इसे अच्छे न लगें, मेम बन कर कुर्सी पर बैठी रहे। दिन पर दिन घर की मालकिन बनी जाती है, परंतु जब तक हम हैं तब तक इसकी तो न चलने देंगे। इस तरह चुगली होने लगी तो घर के लोगों का ठिकाना कहाँ। विद्यार्थी ने चोरी की तो

हमारा नुकसान हुआ। क्या इसके बाप को डाँड़ भरना पड़ता ?"

रानडे ने अंतिम बात सुनकर कहा—"वह हम से न कहती तो किस से कहती ?"

इस पर उनकी सौतेली माँ ने बिगड़ कर कहा—"घर-वाली को बैठाकर उसकी पूजा तुम्हीं करो, तुम समझते होगे कि अंग्रेजी पढ़कर हम लायक़ हुए हैं, परंतु यह कोई लियाक़त नहीं है। अगर हम लोग अच्छे न लगते हों तो घर-वाली का पक्ष लेकर हमारा अपमान मत करो, सीधी तरह से कह दो, हम घर से चली जाँय।"

इस समय रानडे को भी क्रोध आ गया था। उनके मुँह से निकल ही तो गया—"तो नाहीं कौन करता है ?"

परंतु थोड़ी ही देर में वे पछताने लगे और कहने लगे—"घर में तुम्हीं बड़ी हो, जिससे जो चाहे कहो। यदि मुझ से भी किसी समय भूल हो जाय तो तुम मेरा कान पकड़ सकती हो। तुम चाहे जो कहो, इतना जरूर जाँच लो कि असल बात क्या है। असावधानी से मेरे मुँह से जो बात निकल गई उसके लिये मैं तुम से क्षमा माँगता हूँ।"

क्षमा माँगने पर इनकी माँ तो शांत हो गई परंतु इनको अपने शब्दों पर बहुत दिनों तक दुःख रहा, यहाँ तक कि एक पत्र उन्होंने अपने भाई और बहिन को लिखा उसमें अपनी इस भूल का भी जिक्र किया।

माता पिता के अतिरिक्त घर के सब वृद्ध लोगों का आप यथोचित समादर करते थे। अपने चाचा विठ्ठल काका को

उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनकी स्मरण शक्ति तो अच्छी थी ही उस पर लिख डालने से सिद्ध लेखकों के ग्रंथो के विचार उनको सदा के लिये याद हो जाते। ग्रंथ भी वे उच्च श्रेणी के पढ़ते थे। इसे उनकी लेख शैली भी बड़ी उत्तम हो गई। कहा जाता है कि वे एलिसन का वर्तमान युरोप का इतिहास अपनी छात्रावस्था में बहुत पढ़ा करते थे और उनकी लेखन शैली पर इस पुस्तक का बड़ा प्रभाव पड़ा था।

रानडे बड़े वक्ता नहीं थे, परंतु उनके व्याख्यानो में धार्मिक ओज, तार्किक विवेचना और प्रौढ़ विचार होते थे जिनको सुनने मे मालूम होता था कि इन्होंने पढ़ा बहुत है और व्याख्यान तैयार करने में परिश्रय किया है। अधिक पढ़ने के कारण उनकी बातचीत में भी रस रहता था। प्रायः सब विषयों की पुस्तकें वे पढ़ा करते थे। अंग्रेज़ी और मराठी साहित्य, इतिहास, दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र और राजनीति से उनको विशेष अनुराग था। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी और मराठी पत्र और पत्रिकाएँ भी वे बराबर पढ़ा करते। १८९९ की लखनऊ कॉंग्रेस के समय एडवोकेट लायब्रेरी की स्थापना की गई थी। उस समय आपने अपने व्याख्यान मे बतलाया था कि समाचार पत्र बहुत नहीं पढ़ने चाहिएँ। लंडन के साप्ताहिक पत्र " सैटर्डे रिव्यू " की आपने बड़ी प्रशंसा की थी और कहा था कि मैं उसको सदा उत्साह के साथ पढ़ता हूँ।

रानडे के पढ़ने लिखने के समय कोई चला जाता तो वे खिन्न नहीं होते थे। कभी कभी तो उनको पता भी नहीं लगता था कि कौन आया। यदि उनके चारो तरफ बच्चे

शोर मचाते अथवा लोग बात चीत करते तो भी वे अपना काम जारी रखते। उनके पास हर समय विशेष कर छुट्टी वाले दिन हर प्रकार के लोग आते जाते रहते थे। कभी किसीसे मिलने से वे इनकार नहीं करते थे। यदि कोई विचारवान् पुरुष आता तो वे उससे भिन्न भिन्न विषयों पर बात चीत करते, परतु कभी कभी ऐसे लोग भी पहुँच आते जिनके मिलने से समय नष्ट होता और जो जल्दी जाने का नाम नहीं लेते। हमारे देश मे तो यह साधारण बात है। काम हो या न हो जो जब चाहता है मिलने चला आता है। आनेवाला अपना सुभीता देखता है, जिससे मिलना चाहता है उसके काम काज अथवा आराम का कुछ भी ध्यान नहीं, जब तक जी चाहता है, बैठता है। पहले से समय निश्चय करके मिलना हमारे यहाँ अमीरी आदत समझते हैं। केवल राजा महाराजाओं के साथ ऐसा किया जाता है। साधारण स्थिति के पुरुषों के यहाँ, चाहे वे विद्वत्ता, देशहितैषिता आदि गुणों के कारण असाधारण योग्यता के पुरुष हों, मिलने जाने से पहले पत्र लिखना लोग उचित नहीं समझते, यह इसी का परिणाम है कि हमारे देशोपकारक लोग सदा त्रिशित से रहते हैं। उनकी शारीरिक अवस्था हीन रहती है और उनमें से अधिकांश असामयिक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस देश में विद्वता और देशहितैषिता का मूल्य अपना जीवन है। सो कर उठे और मिलनेवालों ने आना शुरू कर दिया। जब लोग सिर पर सवार रहते हैं तब वे बेचारे अपना स्नान, भोजनादि का काम झटपट समाप्त कर तैयार हो जाते हैं। यदि

किसी से कह दें कि इस समय अवकाश नहीं है, बस वह बुरा मान जाय, उनको अभिमानी समझने लगे, एक दोष से अनेक दोष लगने लगें।

यदि रानडे केवल हाईकोर्ट के जज होते, तो उनसे कोई मिलने न जाता; यदि कोई जाता भी तो दर्वाजे पर चपरासी नाम धाम पूछकर उनकी इत्तिला करता। पर रानडे के जीवन के कार्य में हाईकोर्ट की जजी का पहला स्थान नहीं था। इसलिये उनके घर पर बड़े सबेरे से लेकर रात को सोने के समय तक मिलनेवालों के लिये दर्वाजा खुला रहता परंतु रानडे का अपना काम जारी रहता। कभी कभी एक ही समय में भीड़ लग जाती। पर जैसे लोग आते जाते उनसे वैसी ही बातें होतीं। जो लोग जिस योग्यता के होते उनसे वैसी ही मान मर्यादा के साथ वे मिलते। साधारण लोगों से भी उनकी जाति गाँव इत्यादि का हाल पूछकर कुछ सुधार की सलाह देते, कोई नई संस्था स्थापित करने के लिये कहते। उनका कुछ प्रभाव भी ऐसा पड़ता था कि जिनको वे सलाह देते उनमें से अनेक बतलाए हुए काम पर लग भी जाते। रमाबाई लिखती हैं कि लोगों के चले जाने पर कभी कभी मैं पूछती—"आज किन किन लोगों पर कौन कौन काम लादे गए"।

यदि किसी मिलनेवाले से उनका समय नष्ट होने लगता तो उसको वे कोई काम करने को दे देते। सामने से कोई पुस्तक उसके योग्यतानुसार उठाकर उसको दे देते और कहते कि अमुक अध्याय का कृपाकर सारांश लिख दीजिए अथवा

मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से विवाहित, अविवाहित स्त्री-पुरुषों की संख्या इत्यादि निकालने की प्रार्थना करते । उनके कहने पर लोग उस समय काम करने लगते, पर फिर कभी उनके यहाँ न जाते । दो एक यदि इस काम को ठीक ठीक कर देते तो वे उनकी प्रशंसा के पात्र बन जाते । टहलने जाने के समय कोई आ जाता तो उसको साथ ले जाते । कभी कभी उनके साथ मिलनेवालों की भीड भी चलती परंतु उनके तेज चलने के सबब से बहुत से लोग उनका साथ नहीं दे सकते थे, इस लिये वे टहलने का समय बचा कर आते थे। टहलते समय भी वे अपने विचार में निमग्न रहते थे। कभी कभी मालूम होता था कि शरीर तो चल रहा है पर उनका मन अंतरात्मा से बातें कर रहा है । कोई बात छेड़ देते—"गुरु रामदास ने कहा है कि महाराष्ट्र धर्म की रक्षा करो । यह महाराष्ट्र धर्म अन्य हिंदुओं के धर्म से किस अंश में विपरीत है। इससे गुरु रामदास का क्या अभिप्राय था । क्या आप लोगों ने इस पर सोचा है ? ' किसी मित्र ने कहा—' नहीं, हमने तो नहीं सोचा । हम आपका विचार जानना चाहते हैं।" इस पर रानडे ऐसे विचारसागर में डूब जाते कि लोग उनका मुख देखते चलते और शांत रहते । इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने ' महाराष्ट्र अभ्युदय के इतिहास ' में दिया है ।

सर नारायण चंदावरकर लिखते हैं कि एक बार मैं उनके साथ टहलने निकला तो अनेक विषयों पर बातें हुई । उन्हीं दिनों समाचारपत्रों में बाढ़ से कई गावों के नाश हो जाने

का समाचार छपा था। रानडे ने पूछा—" ईश्वर न्यायकारी है, इस सिद्धांत से हम ऐसी घटनाओं का क्या उत्तर दे सकते हैं। इन घटनाओं के द्वारा परमेश्वर उपकार की इच्छा का क्या परिचय देता है ? " इस प्रकार प्रश्न करके वे चुप हो गए और सोच में पड़ गए। घर लौटने तक वे कुछ न बोले। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने एक मित्र को इस प्रकार दिया था – " पूना स्टेशन से पूर्ववाले पुल पर खडे हो कर देखने से इतनी रेल की लाइनें दिखलाई देती हैं और एक लाइन दूसरी लाइन पर से इस तरह चली गई है कि पता ही नहीं लगता कि किस लाइन पर जाने से रेल ठीक़ स्थान पर पहुँचेगी, हम समझते हैं कि झंडी दिखलानेवाला भी घबरा जाता होगा कि किस गाड़ी को किस लाइन पर भेजें। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। क्योंकि झंडीवाला जब जाल के समान लाइनों को अच्छी तरह समझ लेता है तब वह बिना भूल किए गाड़ियों को ठीक वही पथ दिखलाता है जहाँ उन्हें जाना है। उसी प्रकार यदि हम इस सांसारिक प्रक्रिया के प्रत्येक अंग को समझ सकें तो हमें मालूम हो कि संसार के एक भाग में दुर्घटनाओं का होना संपूर्ण संसार के उपकार के विरुद्ध नहीं है और विश्वव्यापी नियमों के उद्घटन में ऐसी घटनाओं का, जिन्हें हम भूलकर विपद् मान लेते हैं, मानों ये सब परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल हैं, होना आवश्यक है। "

इन उदाहरणों से रानडे की एकाग्रचित्तता का परिचय मिलता है। बहुत से लोग गुल गपाड़े में बिलकुल लिख पढ़

नहीं सकते। रानडे ऐसी अवस्था में लिखने पढ़ने के अतिरिक्त सोच भी सकते थे। पर ऐसा मस्तिष्क ईश्वरीय देन है। तिसपर भी मिलनेवालों की भीड़ और शोर गुल के बीच काम करने का प्रभाव उनके मन और शरीर पर पड़ता ही था जिसके कारण उनका स्वभाव बिगड़ने लगता। उनका शरीर बलवान् था पर वे कई बेर इन्हीं असुविधाओं के कारण बहुत बीमार हुए। वे यदि चाहते तो ये असुविधाएँ दूर हो सकती थीं।

रानडे का समय कभी नष्ट न जाता। वे सदा किसी न किसी काम में लगे रहते। काम करने का उन्हें एक प्रकार नशा सा था। एक मित्र ने उनकी प्रशंसा में कहा कि "आपको सदा परिश्रम करने की बान पड़ गई है।" उन्होंने उसपर हँसते हुए कहा कि—" 'बान' तक तो ठीक था अब तो यह असाध्य रोग लग गया है।"

प्रात.काल चार बजे से पहले आप उठ जाते थे और उठतेही तुकाराम के अभंगों को गाने लगते। फिर संस्कृत के कुछ श्लोक, स्तोत्र आदि पढ़कर नित्य कार्यों से निवृत्त हो छ बजे अपना कार्य आरंभ कर देते। दौरे के दिनों में इसी समय चल देते और आठ नौ बजे तक दूसरे पड़ाव पर पहुँच जाते। जब काम शुरू होता तब पहले दैनिक पत्रों के तार पढ़ते और डाक देखते। फिर लिखना शुरू करते और सिर नीचा किए बराबर लिखते चलते, कभी कभी विश्राम के लिये सिर ऊपर कर लेते या एकाध श्लोक या पद कह कर फिर काम में लग जाते। इसी बीच में रमाबाई आज्ञानुसार पत्रों का उत्तर लिख रखतीं,

उनको सुनकर अपने हस्ताक्षर कर देते। फिर भोजनोपरांत कचहरी जाते। ११ से ५ तक वहां रहते। बीच में थोडी देर के लिये जलपान करने उठते। कचहरी से पैदल घर आते, गाड़ी साथ रहती। घर आकर फिर डाक देखते। चिट्ठियों के उत्तर जहाँ तक बन पड़ता उसी दिन देते। प्रायः प्रत्येक प्रांत से उनके पास पत्र जाते थे। कभी कभी दैनिक पत्रों की संख्या एक सौ तक पहुंच जाती। परंतु उत्तर देने लायक जितने पत्र होते थे उनके उत्तर अवश्य जाते थे।

भोजन के पश्चात् रात को बालकों की पढ़ाई की पूछ ताछ करते, घर के बड़े बूढ़ों से बात चीत करते और तब पढ़ना आरंभ करते। स्वयं न पढ़ सकते तो दूसरा कोई पढ़ सुनाता। पढ़ते ही पढ़ते साढ़े दस या ग्यारह बजे सो जाते। उनकी विद्याभिरुचि और परिश्रम के दो एक उदाहरण यहाँ और लिख देने उचित हैं। जब आप फिनैंस कमेटी के सभासद थे तब कमेटी के कार्य पर रमाबाई को साथ लेकर कलकत्ते गए। वहाँ धर्मतल्ला पर,एक बड़ा बँगला किराए पर लिया। यहाँ एक बँगला समाचार पत्र बेचनेवाले ने आकर रमाबाई से पूछा—"पत्र लीजिएगा ?" रमाबाई ने कहा—"नहीं, हम लोग तो बंग भाषा जानते ही नहीं, व्यर्थ पत्र क्यों लें ?" रमाबाई की बात पर ध्यान न देकर उसने रानडे से जाकर पूछा। उन्होंने कहा—"आज का पत्र दे जाओ। कल से मत लाना। इसके बाद सोमवार को दे जाना। उसी दिन से रोज लेंगे।" उसके चले जाने पर रमाबाई से कहा—"जिस

स्थान पर दो चार महीने के लिये आए हैं वहाँ के लोगों से हमें यह कहते संकोच मालूम होता है कि हम तुम्हारी भाषा नहीं जानते।" रमाबाई ने कहा—"किसी दूसरी भाषा न जानने की बात कहने में संकोच ही काहे का? यदि उसके सीखने की इच्छा भी हो तो वह क्यों कर पूर्ण हो सकती है। अच्छा, मैं तैयार हूं। कल से आपही मुझे बँगला सिखलाइए। परंतु आपके अतिरिक्त मैं किसी दूसरे से न सीखूंगी।" रानडे मौन हो गए।

दूसरे दिन जब आप टहलने गए तब दस पंद्रह बँगला और अँग्रेजी की पुस्तकें खरीद लाए और एक स्लेट पेंसिल मँगा ली। भोजन कर बस एक पुस्तक उठा ली। सब काम छोड़ उस दिन बँगला ही सीखते रह गए। दूसरे दिन दोपहर को बँगला पुस्तक हाथ में लेकर हजामत बनवाने बैठे। पढ़ते पढ़ते जब रुकते तब हज्जाम से पूछ लेते। रमाबाई लिखती हैं—"उस समय मैं अंदर थी, मैंने समझा किसी मिलने-वाले से बात कर रहे हैं परंतु सामने आकर देखा आप पुस्तक पढ़ रहे हैं और हज्जाम शब्दों का उच्चारण और अर्थ बतला रहा है। मुझसे हँसी न रुकी। उसके चले जाने पर मैंने कहा—"मास्टर तो बहुत अच्छा मिला। श्री दत्तात्रेय ने जिस प्रकार चौबीस गुरु किए थे, उसी प्रकार यदि मुझसे आपके गुरुओं की सूची बनाने के लिये कहा जाय तो मैं इस हज्जाम का नाम सबसे ऊपर लिखूंगी। पहले तो शिष्य गुरु की सेवा करते थे, अब उलटे बेचारे गुरु को शिष्य की सेवा करनी पड़ती है।" इस प्रकार रानडे ने बँगला सीखी और

रमाबाई को सिखलाई। कलकत्ते से रवाना होने के पहले उन्हें समाचार पत्र और पुस्तक पढ़ने का भी अभ्यास हो गया। चलते समय विषवृक्ष, दुर्गेशनंदिनी, आनंदमठ आदि कई पुस्तकें साथ भी ले लीं।

कलकत्ते के बँगले में पहले पहल जब रानडे जाकर ठहरे तब रमाबाई ने कहा—'यहाँ तो उजाड़ है, न बाग़ है न बगीचा।' रानडे ने शांतिपूर्वक कहा—'कहीं केवल बाग़ बगीचों और पेड़ों से भी मनोरंजन होता है। जिसके पास वाचन के ऐसा साधन है, उसे इन सब बातों की चिंता न करनी चाहिए। वाचन के समान आनंद और समाधान देनेवाली और कोई चीज़ नहीं है। एक विषय की पुस्तक से तबियत उकता जाय तो दूसरे विषय की पुस्तक उठा लो। कविता छोड़ कर गद्य पढ़ने लगो। यदि अधिक पढ़ने से जी उकताए तो ईश्वर निर्मित बाग़ बगीचे देखने चली जाओ। तुम्हारे पास तो सभी साधन हैं। गाड़ी पर हवा खाने जाने से थके हुए मन को विश्राम मिलता है। मनुष्य-निर्मित बाग़ बगीचे से यदि चित्त आनंदित और प्रफुल्लित होता है तो ईश्वर-निर्मित सृष्टि-सौंदर्य का मनन करने और उसके द्वारा प्राणीमात्र को मिलनेवाले सुख का विचार करने से अंतःकरण को सद्गति प्राप्त होती है। अण्णासाहब की मृत्यु के कारण तुम्हारा मन उदास है इसलिये तुम्हारा मनोविनोद किसी प्रकार नहीं हो सकता। अच्छा, अब हम एक काम तुम्हारे सुपुर्द करते हैं। कल से तुम इस उजाड़ जगह को शोभा पूर्ण बनाने का विचार ठानो।' दूसरे दिन मजदूर बुलाए गए और बाग़ लगाने के

लिए जगह साफ की गई। कुछ तरकारियों और फूलों के बीज बो दिए गए। दो एक दिन में जब सब ठीक हो गया कुर्सियाँ लगा कर वहीं पढ़ाई शुरू हो गई।

इस प्रकार विद्याभ्यास और परिश्रम का उपदेश रानडे अपने जीवन से देते थे।

रानडे को विशेष अनुराग इतिहास, दर्शनशास्त्र, धर्म शास्त्र, महाराष्ट्र कविता आदि से था परतु थोड़ा बहुत वे अन्य विषयों के ग्रंथ भी पढ़ते रहते थे। प्रयाग की कांग्रेस के समय विलायत से नया आया हुआ एक अंग्रेज उनके पुस्तकावलोकन और स्मरण शक्ति का हाल सुन कर उनसे मिलने गया। लोगों ने समझा कि किसी राजनैतिक विषय पर गंभीर बातें होंगी पर उसने रानडे से घोड़ों की चर्चा शुरू कर दी और जितनी देर तक रहा घोड़ों के ही सबध में बात चीत करता रहा। यद्यपि वह स्वय बड़ा विद्वान् था परतु रानडे की विद्वत्ता से बड़ा प्रसन्न हो गया। सन् १८९८ की कांग्रेस में वे मद्रास गए। वहाँ तंजोर पुस्तकालय मे एक महाराष्ट्र मिला। उससे उन्होंने पूछा कि इस पुस्तकालय में महाराष्ट्र इतिहास की सामग्री कितनी मिलती है। उसका ध्यान भी इधर नहीं गया था। सामयिक विषयों का ज्ञान रानडे को बहुत था। प्रत्येक प्रांत की राजनैतिक, सामाजिक अवस्था की वे खबर रखते थे, मद्रास की इसी कांग्रेस के समय स्टेशन से वे घर गए, कपड़े उतारते जाते थे और एक नवयुवक वकील से गेंस आफ लर्निंग बिल पर बातचीत करते जाते थे। थोड़ी ही देर में वकील को मालूम हो गया कि रानडे मद्रास निवासी

न होने पर भी इस विषय पर बहुत अधिक जानते थे। मरने से पहले जब डाक्टर लोग उनको यह नहीं बतलाते थे कि उनको कौन रोग है उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकें मँगा कर पढ़ डालीं और अपना रोग बतला दिया।

सादगी और निरभिमानता।

रानडे में अभिमान का लेश मात्र नहीं था। उन्हे कपडों की कोई परवाह नहीं थी और शान शौक़त का कुछ भी ख्याल नहीं था। घर पर अच्छे से अच्छा भोजन और वस्त्र तैयार रहता। बाहर जाने के लिये गाडी घोड़ा भी था। रहने के लिये बँगला भी साफ सुथरा था परंतु काम पडने पर साधारण से साधारण भोजन मे वे संतुष्ट हो जाते थे। सफर में साधारण सी कोठरी में ठहर जाते थे। मीलों पैदल चलते थे। '१८९९ में जब लखनऊ में कांग्रेस हुई थी बंबई प्रांत में प्लेग फैला हुआ था इसलिये सरकारी आज्ञा से बंबईवाले शहर से प्राय: ७ मील पर ठहराए गए थे। इनमें रानडे भी थे। लखनऊ के प्रसिद्ध नेताओं ने कमिश्नर साहब से रानडे के शहर मे रहने के लिये विशेष आज्ञा माँग ली परंतु बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने बंबईवाले साथियो का साथ नहीं छोडा और इतनी दूर से जाने का कष्ट सहना पसंद किया।

जब रानडे के हाईकोर्ट के जज होने का समाचार पूना में पहुँचा उनके मित्रों ने लगातार आठ दिन तक जलसों का प्रबंध किया। उन्होंने बहुत मना किया पर किसी ने उनकी

न सुनी। पहले ही दिन हीरा बाग में 'पान सुपारी' के साथ आतिश बाजी छोड़ी गई। दर्याफ्त करने से मालूम हुआ कि प्रत्येक दिन एक न एक जलसा किया जायगा और अतिम दिन स्टेशन तक बैंड बाजा जायगा। यह सब रानडे की रुचि के विरुद्ध था। वे बिना किसी को सूचना दिए ही रात के ११ बजे की गाड़ी से केवल दो बक्स साथ लेकर चल दिए। रमाबाई साथ गईं, बाकी असबाब दूसरे दिन गया।

रानडे प्राय अपने पास पैसा नहीं रखते थे। प्रसिद्ध तो यह है कि वे पैसा छूते भी नहीं थे। लेन देन का सब कार्य्य रमाबाई करती थीं परतु खर्चे का सब हिसाब उनको *मालूम रहता था।*

हाईकोर्ट से रानडे सायकाल प्राय पैदल घर आते थे। कभी कभी वे गाडी भी अपने साथ रखते। बहुत दिनों तक उनके टहलने का यही समय था।

रानडे अपने सबध में बहुत कम बात चीत करते थे। दूसरों क गुणों ही की चर्चा अधिक रहती थी। देशहित के काम करने के लिये वे सदा तत्पर रहते थे पर किसी को साथ ले लेते थे और यश उसी को दिलाते थे। जो लोग उनके साथ वर्षों रहे हैं उन्होंने भी उनके मुँह से कभी यह नहीं सुना कि मैंने यह किया और मैंने यह किया। गोखले ने ठीक कहा है कि रानडे के शब्द-कोप में उत्तम-पुरुष सर्वनाम एक वचन था ही नहीं।

जो कोई उनसे किसी प्रकार की सहायता माँगने जाता उस से वे सदा मिलते। सड़क पर कोई चिट्ठी पढ़वाता, बोझ

उठाने में सहायता माँगता तो वे कभी इनकार नहीं करते।

जिस संस्था में वे काम करते उस की छोटी बातों पर वे ध्यान नहीं देते थे। उनका ध्यान सदा उसके उद्देश्यों पर रहता था। हमारे यहाँ लोग छोटी छोटी बातों पर लड़ जाते हैं। अपनी टेक रखना चाहते हैं चाहे संस्था टूट क्यों न जाय।

रानडे को लोग समझते थे कि वे बड़े सीधे सादे हैं किसी पर डाँट डपट नहीं रखते, सबको जल्दी क्षमा कर देते हैं, हर एक का एतबार कर लेते हैं। लोग समझते थे कि उनको आदमी की पहचान नहीं थी। चंदावरकर कहते हैं कि बाईं आँख से जो थोड़ा बहुत वे देख सकते थे वह उस से बहुत अधिक था जो हम अपनी दोनों आँखों से देखते हैं। उनकी आँख मनुष्यों की आत्मा में घुस जाती थी और उसके दिल का पता लगा लेती थी। उनका जिस से साथ पड़ता था वे सब का हाल जानते थे परंतु उनमें निरभिमानता इतनी थी कि सब के साथ बराबर का वर्ताव करते थे। सब समझते थे कि वे मुझसे प्रसन्न हैं और उनसे मेरा काम निकल जायगा और सची बात यह है कि वे सब से कुछ न कुछ देशहित का काम करवा ही लेते थे।

घर में भी वे कोई ऐसी बात नहीं करते थे जिस में लोग यह समझें कि अपना बड़प्पन दिखलाते हैं।

दानशीलता।

रानडे दानशील थे। पूना छोड़ कर जब वे हाईकोर्ट की जजी पर गए उन्होंने २५०००) अनेक सार्वजनिक संस्थाओं

को दिया था। विद्यार्थियों की सहायता वे हमेशा किया करते थे। कई विद्यार्थी उनके साथ रहते थे जिनके सिपुर्द थोड़ा बहुत घर का काम भी रहता था। अन्य प्रकार के दुखी लोग उनसे रुपया ले जाया करते थे। सब कामों में वे थोड़ा बहुत चंदा देते रहते थे।

लाला माधो रामजी रानडे के उर्दू चरित्र में लिखते हैं कि उन्होंने अपने वसीयत नामे में निम्न लिखित प्रकार से दान करने की आज्ञा दी थी।

पूना पुस्तकालय	१०००)
पूना प्रार्थना-समाज	१०००)
पूना कन्या हाईस्कूल	१०००)
पूना सार्वजनिक सभा	१०००)
पूना संगीत समाज	५००)
पूना टौनहाल कमेटी	५००)
पूना मोहताजखाना दाऊद सासून	५००)
पूना दक्षिणी भाषा में अनुवाद करनेवाली सभा	१०००)
पूना मे गरीबों को ओषधि बाँटने के लिये	१०००)
पूना सिटी क्लब „ „ „ „	५००)
पूना दक्षिण मराठा एसोसिएशन	१०००)
पूना दक्षिण शिक्षा सभा	१०००)
पूना में गरीबों के मुर्दे जलाने के लिये	१०००)
बंबई प्रार्थना-समाज	१०००)
बंबई विश्वविद्यालय „ „ „ „	२०००)
बंबई हिंदू क्लब „ „ „ „	५००)

वंबई इंडियन जेनरल पुस्तकालय	१०००)
पंढरपुर अनाथालय	१०००)
वारामती गाँव की शिक्षा सभा ,, ,,	५००)
सिविल सर्विस फंड	३०००)
इंडस्ट्रियल एसोसिएशन जिस का उद्देश्य वंबई प्रांत के भारतीय विद्यार्थियों को जापान शिक्षा पाने के लिये भेजना है	२०००)
ताता इंस्टीट्यूट छात्र-वृत्ति	३०००)
कोल्हापुर की एक संस्था के लिये	१०००)
,, ,, ,, के मंडप के लिये	१०००)
किरकी में यात्रियों की धर्मशाला	१०००)
फुटकर (ब्राह्मणों को दान)	१०००)
अन्य धार्मिक कार्य्यों के लिये	१००००)

दानशीलता होना असाधारण गुण है। परंतु सच्चा दानी वह है जो अपने दान की गीत नहीं गाता और जिसके यहाँ से शुभ कार्य के लिये भिक्षा माँगनेवाला खाली हाथ नहीं जाता।

रानडे ने अपना रुपया व्यर्थ कभी नहीं फेंका। देश की आवश्यकता के अनुसार वे दान करते थे। ऊपर दी हुई सूची से मालूम हो जाता है कि वे कितनी भिन्न भिन्न रीतियों से दान करते थे।

रानडे सुधारक थे। उनका साथ देनेवाले भी बहुत थे। परंतु विवाहादि अवसरों पर इन लोगों को बड़ा कष्ट होता था। संस्कारादि कराने के लिये ब्राह्मण मिलना कठिन हो जाता था। इस कष्ट को दूर करने के लिये वे नियमित रूप से चार ब्राह्मण

अपने यहाँ रखते थे जो सुधारकों के कुटुंब में आवश्यकता पड़ने पर हवनादि करा आते थे। एक बेर सुधारकों के विरुद्ध विशेष आदोलन मचा था उस समय १००) वार्षिक पर दो ब्राह्मण और नियुक्त कर लिए गए थे।

सोशल कान्फरेंस के अधिवेशनों की रिपोर्ट वे अपने खर्च से छपवाते थे। इसके लिये कभी उन्होंने चंदा नहीं माँगा। स्वय छोटे छोटे छापेखानों की तलाश म वे गलियों में घूमा करते थे जिस मे रिपोर्ट छपवाने मे खर्च कम पड़े।

उदारता और प्रेम।

दानशील पुरुष उदार होते हैं परंतु उदारता केवल दानी होने ही में नहीं है। सच्ची उदारता का परिचय सार्वजनिक महानुभूति और प्राणी मात्र से प्रेम करने से मिलता है। मत भेद, स्थिति-भेद, जातिभेद, आयु भेद आदि रहते हुए भी एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिलते रहना असाधारण प्रेम का लक्षण है। दूसरे के गुणों ही पर सदा दृष्टि रखना, दूसरों की विपद में अपने को विपद-ग्रस्त पुरुष के स्थान में समझ कर पूर्ण और हार्दिक सहानुभूति करना उदारता है।

इस गुण के लिये भारत क नेताओं में रानडे अपने समय मे अग्रगण्य गिने जाते थे। कभी किसी ने उनके मुँह से किसी की निंदा नहीं सुनी। ईर्ष्या, द्वेष, छोटी छोटी नीच व्यक्तिगत बातों से वे सदा दूर रहते थे। एक बेर उन्होंने कहा था ' इसकी क्या आवश्यकता है कि लोगों स कहा जाय कि वे बुरे हैं, किसी काम के नहीं, उनसे कोई अच्छा

काम हो ही नहीं सकता। यदि तुम मनुष्यों को जिस जगत में वे रहते हैं उसका तात्पर्य बतलाना चाहते हो और उनसे शुभ कार्य कराना चाहते हो तो उनमें जो छिपे हुए गुण दबे पड़े हैं उनकी सुधि दिला कर जागृति पैदा करो"। इस उच्च सिद्धांत पर वे सदा चलते थे, यहाँ तक कि जो लोग उनका विरोध करते थे, जो उनको बदनाम करने या कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करते थे उनकी भी वे कभी शिकायत नहीं करते थे। कभी उनको दुःख भी होता था तो अपनी अप्रसन्नता किसी पर प्रगट नहीं करते थे। मिलने जुलनेवाले लोगों पर यह बात विदित नहीं होती थी। जो रात दिन उनके साथ रहते थे उनको उनके चेहरे से थोड़ा बहुत इसका पता लग जाता था परंतु उनके शब्दों या कार्य्यों से नहीं। आँखे खराब होने के कारण अखबार उनको पढ़कर सुनाए जाते थे। जिन दिनों समाज संशोधन के विरुद्ध आंदोलन मचा हुआ था समाचार पत्र अपने अपने मतानुसार उनकी निंदा और स्तुति करते थे। गोखले उनको पत्र पढ़कर सुनाया करते थे। वे कहते हैं कि स्तुति करनेवाले पत्रों को वे नहीं सुनते थे परंतु निंदा करनेवालों को सुनने की ज़िद करते थे। वे कहा करते थे कि संभव है उनमें कुछ ऐसे विचार मिल जाँय जो स्वीकार करने योग्य हों। जो खंडन कठोर और दुःख पहुँचानेवाला होता था उसको सुनकर वह यही कहा करते थे कि ऐसे दुःख को सहन करने का अभ्यास डालना भी एक तप है।

इस पुस्तक के अंत में जो कहानियाँ दी गई हैं उनमें से अनेक उनकी उदारता का परिचय देती हैं।

जिनसे वे सहमत नहीं होते थे आवश्यकता पड़ने पर वे उनका भी साथ देते थे। उनके मित्र आश्चर्य करते थे कि जो पुरुष राजा राममोहन राय की ब्रह्मसमाज के सिद्धातों को मानता हो वह कभी मंदिरों में जाकर पुराण की किसी कथा पर व्याख्यान देता है और कभी आर्यसमाज में जाकर उपदेश करता है।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानद सरस्वती जब पूना गए थे रानडे ने उनके व्याख्यानों का प्रबध कर दिया था और वे स्वय प्रति दिन सध्या समय व्याख्यान सुनने जाया करते थे। जब उनके विदाई का दिन आया लोगों ने निश्चय किया कि स्वामी जी के लिये नगरकीर्तन का प्रबध किया जाय। इसकी चर्चा शहर में फैल गई, अनेक प्रकार के विरोधी खड़े हो गए। कुछ लोगों ने सवेरे ही से गर्दभानदाचार्य की सवारी निकाली। स्वामीजी की सवारी का प्रबध रानडे क घर पर होने लगा। गर्दभानदाचार्य की सवारी का समाचार सुनकर खूब हँसी हुई। साय काल स्वामीजी के व्याख्यान हो जाने पर उनको माला पहनाई गई। पालकी म वेद रक्खे गए और हाथी पर स्वामी जी आग्रहपूर्वक बैठाए गये। ज्यों ज्यों नगरकीर्त्तन आगे बढ़ता था विरोधियों का दल भी बढ़ता जाता था। लोग अड बड बकने लगे। कहीं कहीं वे दगा फसाद करने के लिये भी उत्तेजित हो जाते थे। वर्षा होने के कारण सड़क पर कीचड़ भी बहुत था। लोग कीचड़ फेकने लगे और आगे चलकर ईंट पत्थर भी बरसाने लगे, पर रानडे ने पुलिसवालों को बिलकुल मना कर दिया

था कि वे हस्तक्षेप न करें। जब राह चलतों पर ईंटा बरसनी शुरू हो गई तब पुलिस ने रोका और फसादी लोग भाग गए।

रानडे आरंभ से अंत तक साथ थे। जब वे घर पहुँचे उन्होंने कपड़े बदले। लोगों ने पूछा 'सिपाही रहते भी आप के कपड़ों पर कीचड़ फेंका गया'। आपने हँसते हुए उत्तर दिया 'जब हम सबके साथ थे तब हम पर भी कीचड़ क्यों न पड़ता। पक्षाभिमान का काम ऐसा ही होता है। उसमें इस बात की परवाह नहीं की जाती कि विरुद्ध पक्ष के लोग उच्च हैं या नीच। ऐसे अवसर पर मानापमान का विचार हम लोगों के मन में क्यों आने लगा। ऐसे काम इसी तरह होते हैं'।

स्वामी जी की ओर श्रद्धा और प्रेम का भाव सदा उनके चित्त में रहता था। उनकी बनाई परोपकारिणी सभा का सभासद होना भी उन्होंने स्वीकार किया था, लोग उनसे कहा करते थे कि मतभेद होते हुए भी आप स्वामी जी का साथ क्यों देते हैं ? वे कहते, "क्या हर्ज है यदि स्वामी जी केवल वेदों ही को अपौरुषेय मानते हैं, यह उनका मत है। हमें गंभीरता पूर्वक देखना चाहिए कि इस सिद्धांत के अतिरिक्त कितने विषय हैं जिन पर हमारे और उनके सिद्धांत मिलते हैं"। १८९६ में राजा राममोहन राय पर व्याख्यान देते हुए महापुरुषों के लक्षणों के उदाहरण में उन्होंने कहा था कि महापुरुषों को संसार की साधारण बातों से भी असाधारण शिक्षा मिलती है। उनकी कल्पना शक्ति उनको बाह्य जगत् के तत्त्व की ओर ले जाती है। "हमलोग संसार की वस्तुओं से इस प्रकार परिचित हैं कि उनके अंदर के तत्त्व का अनुभव नहीं

कर सकते। हमलोग एक प्रकार की मूर्खता से आच्छादित हैं जो हमको वस्तुओं के भीतर पैठने से रोकती है। उदाहरण के लिये दयानद सरस्वती के जीवन की उस कथा को लीजिए जिसमे उनके घर छोड़कर सन्यासी हो जाने की बात आई है। आप लोग जानते हैं वे महापुरुष थे। इसमें कोई सदेह नहीं कर सकता, चाहे हमारे और उनके मत में भद भी हो। वर्तमान काल के लोगों में शायद ही कोई आदमी ऐसा हुआ है जिसका नाम उनके साथ लिया जा सके"। यह कह कर रानडे ने स्वामीजी के शिवरात्री पर बोधोदय की कथा कह सुनाई।

रानडे ने आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज को एक करने का प्रयत्न भी कई बार किया था परन्तु वे इसमें कृतकार्य नहीं हुए।

उदार पुरुष किसी का दुःख नहीं सह सक्ते, वे तन, मन, धन से सहानुभूति प्रगट करने के लिये तयार रहते हैं। स० १९०० में देश में अकाल पडा था। एक इंजिनियर साहेब जो अकालपीडित लोगों से उनकी सहायतार्थ मजदूरी कराने के काम पर नियुक्त हुए थे, रानडे से मिलने आए। बात चीत मे रानडे से उन्होंने कहा हजार प्रयत्न करने पर भी अकाल से पीड़ित लोगों का मर जाना साधारण सी बात है। रानडे को प्राय क्रोध नहीं आता था परन्तु इनकी बात सुनकर दुख और क्रोध से उन्होंने कहा कि आप आनद से जीवन निर्वाह करें और आप के सामने लोगों का भूखों मर जाना साधारण सी बात है। क्या आप का यह धर्म नहीं कि परमेश्वर के बदों को मौत से बचावें।

अत्यंत उदार होना और पूरी सहानुभूति रखना बड़ा कठिन है। ऐसा करने मे कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं रानडे का चरित्र इसका एक अच्छा उदाहरण है।

१४ अक्तूबर सं० १८९० की एक घटना इस संबंध में लिखने योग्य है। पूना मे एक सेंट मेरीज़ कान्वेंट है। संध्या समय पादरियों ने पूना के कुछ प्रतिष्ठित सज्जनों को निमंत्रित किया। वहाँ कुछ लेख पढ़े गए और व्याख्यान हुए। तदुपरांत ज़नाना मिशन की कुछ मेमों ने अपने हाथों से लोगों को चाय देनी शुरू की। उनका मान करने के लिये सब ने चाय ले ली, कुछ तो पी गए और कुछ लोगों ने प्याला अलग रख दिया। जितनी स्त्रियाँ उपस्थित थीं उन्हो ने चाय लेना भी अस्वीकार कर दिया। इसके दो तीन दिन पीछे इसका सारा हाल "पूनावैभव" पत्र में गोपाल विनायक जोशी के नाम से छप गया। उसमें ब्राह्मणों पर बड़ा कटाक्ष किया गया था। लिखा था कि यदि कोई ग़रीब हिंदू विलायत से आता है तो तुरंत निकाल दिया जाता है और ये बड़े बड़े सुधारक धन के बल से ब्राह्मणों को अपने साथ रखते हैं। ब्राह्मण मंडली के इस धर्मविरुद्ध आचरण के कारण सुधारक आसमान पर चढ़े जाते हैं।

इसी बीच मे रानडे के घर एक दिन भोज हुआ। उसमें गोपाल विनायक जोशी भी आए थे। इस भोज में दो तीन को छोड़ कर सब ब्राह्मण ही थे। दूसरे दिन इस भोज का विवरण भी "पूनावैभव" में गोपाल राव ने लिख भेजा। यह सब वे केवल मनोविनोद के लिये करते थे परंतु हिंदूसमाज

में खलबली मच गई।' श्रीशंकराचार्य जी के भी कान खड़े हो गए। लोगों ने सभा करके प्रस्ताव किया कि यदि "पूना वैभव" में छपी हुई बातों का खंडन अथवा विरोध न किया जायगा तो सुधारक जाति से च्युत किए जाँयगे। दो सप्ताह तक उन्होंने आसरा देखा। ५२ आदमियों में से १० ने खेद प्रगट किया और पत्र लिख दिया कि हमने केवल प्याले छुए थे चाय नहीं पी थी। उनका छुटकारा हो गया। शेष ४२ बहिष्कृत कर दिए गए।

श्रीशंकराचार्य जी ने एक शास्त्री को इसका निर्णय करने के लिये पूना भेजा। इधर सुधारक लोगों के घरों में अशांति फैलने लगी। रानडे की बहन ने आग्रह किया कि वे भी क्षमा माँग ले और लिख भेजें कि मैंने चाय नहीं पी थी, बस छुटकारा हो जाय। बात भी सच थी। रानडे ने चाय नहीं पी थी केवल लेकर रख ली थी। रानडे ने उत्तर दिया "पागल हुई हो, यह क्योंकर हो सकता है, जब मैं उस मंडली में मिला हुआ हूँ तब जो काम उन्होंने किया वही मैंने भी किया। मैं नहीं समझता कि चाय पीने या न पीने में भी कुछ पाप पुण्य लगा हुआ है, परंतु जिसमें हमारे साथ बैठने-वाले चार आदमी फँसे हैं उससे अलग हो जाना मैं कभी पसंद नहीं करता"। उनकी बहिन ने श्राद्धादि अवसरों पर ब्राह्मणों के मिलने की कठिनाई बतलाई। उन्होंने संस्कारादि कराने के लिये नियमित वेतन पर ब्राह्मण नियुक्त कर लिए क्योंकि वे घरवालों को भी असंतुष्ट नहीं रखना चाहते थे।

२ वर्ष बीत गए। समाज ठंढा पड़ने लगा परंतु सुधा-

रकों की गृहस्थी की क्लेश बढ़ते ही गए। जिनके घर की लड़कियाँ ससुराल थीं उनका आना जाना बंद हो गया। इन्हीं दिनो इनके एक परम मित्र जो चायवाले स्थान में उपस्थित होने के कारण वहिष्कृत थे और जिनका बहुत बड़ा परिवार था छुट्टियों में अपने घर आए। उनके यहाँ दो एक विवाह भी होनेवाले थे। उनके पिता भी जीवित थे। पिता ने प्रायश्चित्त करने की सलाह दी। उन्होंने पिता की सलाह नहीं मानी। रानडे ने उनसे कहा कि अपने वाल बच्चों को लेकर मेरे साथ लोनावले में छुट्टी विताओ। उन्होने ऐसा ही किया। उनके पिता बड़ी चिंता में पड़ गए। वे दुखी हृदय से रो रो कर पत्र लिखते कि प्रायश्चित्त कर लो। एक दिन उन्होंने रानडे को पत्र दिखला कर उनसे पूछा कि इसमें क्या करना चाहिए। रानडे का कोमल हृदय अपने मित्र के पिता का दुःख न सह सका। उन्होंने कहा "यदि मैं तुम्हारे स्थान में होता तो मानहानि सह कर भी पिताजी को संतुष्ट करता" इसपर उनके मित्र ने कहा "यदि हमारे साथ आप भी प्रायश्चित्त कर लेते तो ठीक होता" थोड़े दिनों के बाद पूना से दस बारह और आदमी आगए। सब ने आग्रह किया कि यदि आप प्रायश्चित्त कर लेंगे तो हमारा भी छुटकारा हो जायगा। समाज की कड़ी वेदनाओं से सभी दुखी थे। रानडे के कारण प्रायश्चित्त करने का साहस नहीं करते थे। उनके यह कहने पर कि मैं पिता को कष्ट न देता और प्रायश्चित्त करने की मानहानि सह लेता, सब उन्हींको प्रायश्चित्त में अगुआ बनाना चाहते थे। रानडे को अपने लड़के लड़कियों

का विवाह नहीं करना था केवल मित्र के दुःख से दुखी होकर उन्होंने कहा "चलो, पूना चलकर एक तिथि निश्चय करो, मैं भी उस दिन पहुँच कर तुम्हारा साथ दूगा"।

सूचना पाने पर प्रात काल आप पूना चल दिए और सायकाल वहाँसे लौट भी आए। इसके बाद जब उनके मित्र भी लौटे तब उन्होंने उनसे सब हाल पूछा। उनके मित्र ने कहा, मुझे लोगो ने अपने साथ ले लिया, पिता जी के सच्चे प्रेम और उसके कारण सुख का अनुभव मुझे उसी समय हुआ जिस समय प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणो की आज्ञानुसार मैंने पिताजी को प्रणाम किया। उस समय उन्होने मुझे छाती से लगाकर गद्गद होकर कहा 'इतने मनुष्यो मे आज तुमने मेरा मुख उज्वल किया'। उस समय उनके और मेरे दोनो के नेत्रो से जल निकल रहा था। पिताजी का इस प्रकार प्रेमपूर्ण व्यवहार या उनके नेत्रो से इस प्रकार अश्रुपात मैंने कभी नहीं देखा था।

माता पिता के प्रेम और समाज के डरने न मालूम कितने होनहार नवयुवक लोगों की शुभ उमगों को उनके उत्पत्ति काल ही में मिट्टी मे मिला दिया। जो वीर अपने उज्वल उदाहरण से ब्रह्मचर्य्य और विद्योन्नति का डका बजाते, सामाजिक बधनों में पड़कर वे देश सेवा का नाम लेने योग्य भी नहीं रहे। रानडे की प्रशसा इस बात मे है कि इस प्रकार की *कठिनाइयाँ उपस्थित होने की अवस्था में अपना सिर झुका* देने पर भी अपने उद्देश्य को उन्होंने नहीं छोड़ा। परतु कलकत्ता काग्रेस में महाराजा नाटोर के इस कथन को अवश्य

सत्य मानना पड़ेगा कि "यदि रानडे में कुछ थोड़ी दिलेरी अधिक होती, उनके स्वभाव में कुछ अग्नि अधिक होती—एक शब्द में—यदि वे अधिक बलवान व्यक्ति होते तो रानडे हमारी समाज पर उतना ही गहरा प्रभाव डाल जाते जितना राजा राम मोहन राय ने डाला"।

परंतु रानडे की यह कमज़ोरी एक बड़े गुण का परिणाम थी। वे सबको साथ लेकर चलना चाहते थे।

अंग्रेज़ कवि आर्नल्ड की यह कविता उन की अवस्था पर ठीक ठीक घटती है।

See! In the sands of the world
Marches the host of mankind,
A feeble wavering line,
Where are they tending? A God,
Marshall'd them, gave them their goal,—
Ah, but the way is so long!
Years they have in the waste!
Sore thirst plagues them; the sands,
Spreading all round, overawe,
Factions divide them, their host
Threatens to break to dissolve,—
Ah, keep, keep them combined!
Else, of the myriads who fill
That army, not one shall arrive;
Sole shall they stray; in the sands
Founder for ever in vain,
Die one by one in the waste.

ससार के बालू पर मनुष्यों की सेना आगे चल रही है। इन लोगों का पैर ठीक नहीं पड रहा है। ईश्वर ने इन्हें उत्पन्न किया है, इनको जहाँ जाना है वह स्थान भी मालूम है। परतु मार्ग लबा है, इनको बालू में चलते वर्षों बीत गए। प्यास से ये दु खी हैं। चारों ओर बालू फैला हुआ देखकर ये लोग हिम्मत हार जाते हैं। इनका समूह कई दलों में विभाजित हो गया है। इनकी सेना के तितिर बितिर हो जाने का डर है। हाय! इन सब लोगों को मिलाए रक्खो, नहीं तो हजारों की सेना में से एक भी नहीं बचेगा, सब अलग अलग भटकेंगे। वृथा बालू में छट पटा कर एक एक करके मर जायँगे।

रमाबाई को भी रानडे का प्रायश्चित्त करना पसद नहीं आया था। वे मन में कहने लगीं कि पूनावालों के लिये उनको बदनामी भी उठाना पसद है। रानडे के पूना से वापस आने पर उन्होंने समझा था कि उनको बड़ा रज होगा, इसलिये वे उनके सामने नहीं गईं परतु आड से देखने से मालूम हुआ कि वे शातिपूर्वक अपनी डाक और अखबार देख रहे हैं। किसी प्रकार उद्विग्न या चिंतित नहीं थे। उन्होंने भोजनादि भी प्रसन्नता से किया। दूसरे दिन से मित्रों ने आकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करनी शुरू की। टाइम्स पत्र में दो एक लेख भी प्रायश्चित्त की कड़ी समालोचना करते हुए निकले। आपने शातिपूर्वक उनको पढ़ लिया, इस सबध में रमाबाई के बातचीत करने पर आपने कहा-" अपने मित्रों और साथ रहनेवालों के लिये यदि थोड़ी बुराई भी सहनी पड़े, तो उस में हानि क्या हुई "।

आशा और विश्वास की अधिकता।

We should learn to be men, stalwart puritan men, battling for the right, not indifferent, nor sanguine, trustful but not elated, serious but not dejected—Ranade.

रानडे मे सब से बड़ा गुण आशा और विश्वास का आधिक्य था। उनपर कभी नैराश्य नहीं छाता था। शुभ कर्म्म करने मे कभी उन्होंने विश्वास नहीं छोड़ा। निराशा की बातो को वे हवा में उड़ा देते थे। गोखले इस संबंध मे अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

" रानडे की एक बात जो मै समझता हूँ १८९१ में उन्होंने मुझसे कही थी मेरी स्मृति पर अङ्कित हो गई है। उस वर्ष सोलापुर और बीजापुर के जिलों मे घोर अकाल पड़ा था। सार्वजनिक सभा ने जिसका मैं उस समय मंत्री था, अकालपीडित लोगो की अवस्था पर बहुत सी सामग्री इकट्ठा की थी और समय पाकर इस विषय पर सरकार की सेवा में एक प्रार्थना-पत्र भी भेजा था। इस पत्र को हम लोगों ने बडी मेहनत और विचार से लिखा था परंतु सरकार ने केवल दो पंक्ति का उत्तर लिख भेजा कि हम लोगो ने तुम्हारे पत्र का विषय नोट कर लिया है। मुझे यह उत्तर पाकर बडी निराशा हुई और दूसरे दिन जब रानडे संध्या को टहलने जा रहे थे मैं भी उनके साथ हो लिया। मैंने उनसे पूछा " इतना कष्ट उठाने और सरकार की सेवा मे पत्र भेजने से क्या लाभ जब

कि सरकार उत्तर में इससे अधिक लिखने की परवाह नहीं करती कि उन्होंने हमारे पत्र के विषय को नोट कर लिया" रानडे ने उत्तर दिया—"आप नहीं जानते कि हमारे देश के इतिहास में हमारा क्या स्थान है। ये प्रार्थना-पत्र केवल नाम मात्र के लिये सरकार के नाम भेजे जाते हैं,यथार्थ में ये लोगों के नाम भेजे जाते हैं जिसमें व इन विषयों पर सोचना सीखें, कई वर्ष तक इस काम को बिना किसी फल की आशा के करना पड़ेगा, क्योंकि इस प्रकार की राजनीति इस देश में नई है। इसके अतिरिक्त यदि सरकार जो कुछ हम कहते हैं उस-को नोट कर लेती है—यह भी बहुत कुछ है।" जो देशहितैषी थोड़ी थोड़ी बातों से आशा त्यागने लगता है वह कुछ काम नहीं कर सकता। काम करनेवाले को देश की अवस्था, लोगों की दशा, उनके पूर्व के इतिहास पर दृष्टि रखते हुए चलना चाहिए। सर्वदा सब बात मनमानी नहीं हो सकती। कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं। रानडे ने जब सोशल कानफरेंस चलाई थी चारों ओर से लोग उसका विरोध करते थे। उसके अधिवेशनों में गिने चुने लोग आते थे। जनसमूह में उसके लिये कोई अनुराग नहीं था। १८९१ के लगभग एक दिन गोखले ने उनसे यह पूछने की हिम्मत की कि जब सोशल कानफरेंस की उन्नति के संबंध में आपके बड़े से बड़े प्रेमी मित्र सिर हिला देते हैं और कहते हैं कि सभाएँ करने, प्रस्ताव पास करने और इस प्रकार के निरर्थक कार्यों में क्या रखा है, तब कौन सी बात है जो आपके अनुराग को क़ायम रखती है और आप उसके लिये निरंतर उद्योग करते हैं"। उन्होंने उत्तर दिया—"काम

निरर्थक नहीं है, बल्कि इन लोगों का विश्वास छिछला है " । कुछ सोच कर फिर उन्होंने कहा " कुछ वर्षों तक ठहरो, मुझे समय आता दिखलाई देता है, जब लोग यही प्रश्न कांग्रेस के बारे में पूछेंगे जिसके लिये आज कल लोगों को इतना जोश है । हमारी जाति में एक प्रकार का दोष है कि हम निरंतर उद्योग के बोझ उठाने की योग्यता नहीं रखते"।

रानडे की भविष्यवाणी ठीक निकली, थोड़े ही वर्षों में कांग्रेस भी फीकी पड़ने लगी और बहुत से लोग उसके संबंधमें भी कहने लगे कि उसके रखने की क्या आवश्यकता है । हमारे देश में यह साधारण दृश्य है कि लोग किसी काम को बड़े जोश के साथ उठाते हैं परंतु थोड़े ही दिनोंमें हिंमत पस्त हो जाती है। "आरंभशूरों" की हममें न्यूनता नहीं है, न्यूनता है ऐसे लोगों की जिनको अपने काम में पूर्ण विश्वास हो और जो उसकी उन्नति की पूरी आशा रखते हों । रानडे के निरंतर उद्योग से सोशल कानफरेंस दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर गई। उसकी उन्नति के लिये कोई काम वे छोटा नहीं समझते थे। जैसे विवाह आदि अवसरों पर लोग घर घर निमंत्रण देते हैं उसी प्रकार रानडे लोगों को सोशल कानफरेंस में बुलाने जाया करते थे।

रानडे ने तैलंग की वर्षी पर कहा था " हम इस देश के योग्य नहीं हैं यदि हम में अपने देश के इतिहास से आशातीत होने की शिक्षा नहीं मिलती—वह इतिहास जो संसार की समस्त जातियों के इतिहास से बढ़ कर है । एशिया, योरोप, अफ्रिका अथवा अमेरिका का नक्शा देखिए । आपको मालूम होगा कि संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसकी अटूट

स्थिति इतने अनंत काल से चली आई हो। अन्य देशों में जातियाँ और धर्म उठे, बढ़े और नाश को प्राप्त हो गए, परंतु भारत भाग्यवान है कि अनेक अंशों में अधोगति को प्राप्त होकर भी यहाँ के निवासी संकटों से बचते ही चले आए हैं मानो ये किसी विशेष उद्देश्य को लेकर संसार में भेजे गए थे। उस उद्देश्य का झंडा वर्त्तमान काल के लोग अथवा उनसे कुछ पहले के लोग उठाने की योग्यता न रखते हों परंतु सच्ची बात यह है कि हम उस धर्म्म, उस इतिहास, उस साहित्य, उस दर्शन, उस आचार व्यवहार, उन विचारों के माननेवालों के प्रतिनिधि हैं जो बराबर चले आ रहे हैं और जो इसी देश में पाए जाते हैं और जिनको हमारे पूजनीय पूर्वजों ने इस देश से अन्य देशों में फैलाया था। आप पूछ सकते हैं कि इसमें कौन बड़ी बात है कि जिसके कारण हमारी आशाएँ बढ़ें। वस्तुतः ईश्वरी न्याय में यह बिलकुल व्यर्थ नहीं हो सकता कि हम पर इतनी कृपा हो। यदि कई सहस्र यहूदियों का सुरक्षित चला आना करामात है तो मनुष्यजाति के पाँचवें अंश का आश्चर्यजनक सुरक्षित चला आना केवल संयोग मात्र नहीं हो सकता"। इसी व्याख्यान में आगे चल कर उन्होंने बतलाया है कि हममें अनेक लोग ऐसे हैं जो बच्चों की तरह थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े ही में अप्रसन्न। बच्चे को खिलौना मिल जाय वह रोना बंद कर देता है। खिलौना छीने जाने पर रोने लगता है। जो लोग अपने देश के भविष्य की आशा रखते हैं वे यह भली भाँति जानते हैं कि उन्नति कड़ी तपस्या के अनंतर मिलती है। इसलिये

कठिनाइयाँ और संटक जो उपस्थित होते हैं वे केवल हमारे साधन में सहायता करते हैं और हमारे विश्वास की परीक्षा करते हैं। यही रानडे के जीवन की सफलता का रहस्य था। इसी कारण उनको किसीने जल्दी करते, माथा पटकते या क़िस्मत पर दोष देते नहीं पाया।

(१३) अंतिम दिन मृत्यु और स्मारक।

"And what life there was on the face even after death! It bore then the mark of gentleness. Death had done its work, but it could not take away his Faith, Charity and Love which brightened it even when the corpse was laid on the funeral pyre. Purity shone on him, gave life and beauty to his face, even after death, because the soul within had before death—throughout his life—been pure. It was the character within that gave beauty to the face without."

—Sir Narayan Chandavarker

१९०० की जुलाई मे रानडे के पेट में ऐंठन का रोग लग गया, अगस्त मे यह भयानक हो गया। १० सितंबर १९०८ की एक चिट्ठी में जो रानडे ने अपने मित्र मानकर को लिखी थी उन्होंने इस प्रकार अपने रोग का वर्णन किया था—"आपके कृपापत्र से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे इस बेर केवल दस्तों ही का रोग नहीं था। दस्तों के बंद हो जाने से दूसरा रोग लग गया। मुझे मालूम होता था कि शरीर की

शक्ति बिलकुल जाती रही। दस पंद्रह दिन के पीछे दहने और बाएँ हाथ में दर्द और साथ ही छाती के ऊपरी हिस्से में पीड़ा उत्पन्न हो गई। यह दर्द मुझे रात के ९ बजे के बाद उठता और रात भर बेचैन कर देता। अब भी दूसरे तीसरे दिन पीड़ा उठती है। इसका कारण पेट के ऊपरी हिस्से में वायु का जमा होना बतलाया जाता है। डाक्टरों की राय है कि जब मुझे फिर बल आजायगा तब दर्द नहीं होगा। प्राय पाँच सप्ताह तक मैं घर ही पर रहा। इस सप्ताह से फिर कचहरी जाने लगा हूँ। दीवाली की छुट्टी के बाद मैं और छुट्टी लूँगा और महाबलेश्वर जाकर रहूँगा।" डाक्टरों की राय से आप एक महीने की छुट्टी लेकर माथेरान चले गए थे। वहाँ फिर इस रोग ने सताया। रमाबाई उन दिनों बहुत बीमार थीं, तिसपर वे बच्चों को लेकर माथेरान पहुँचीं। वहाँ रहने से थोड़ा ही फायदा हुआ।

इस समय के कुछ पूर्व ही से रानडे सांसारिक वस्तुओं से अपनी रुचि कम करने लगे थे।

"तन जग में मन हरि के पासा।
लोक भोग सूँ सदा उदासा॥"

किताब पढ़कर सुनानेवाला यदि कहीं भूल करता तो आप उसको न बतलाते और उसको पढ़ने देते। घर गृहस्थी की कोई बात आती तो आप रमाबाई से कहते—यह काम तुम्हारा है, हमें इसमें दखल देने की ज़रूरत नहीं। डाक्टर ने एक तेल मलने को बतलाया था, उनकी बहन तेल मल देतीं। वे उनसे और लड़कियों से भजन गीतादि गाने का आग्रह किया

करते और उनके गाने पर प्रसन्न होते। डाक्टरों की राय थी कि नौ दस बजे रात को दर्द होने का समय आने से पहले ही हँसी दिल्लगी की बातें होनी चाहिए परंतु इससे कुछ फायदा नहीं हुआ। प्रति दिन उसी समय छाती बँध जाती और हाथ पैर ऐंठने लगते। कुछ देर के बाद जँभाई, डकारें आदि आने से दर्द कम होने लगता, परंतु शरीर बहुत शिथिल हो जाता था। इस बीमारी से कुछ पहले रानडे को धूप लग जाने से एक घेर ज्वर आ गया था और इनकी स्त्री भी बीमार हुई थीं जिसके कारण बेहोश करके डाक्टरों ने चीरफाड़ की थी। इन सब का भी प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ा था। साथ ही उनकी आत्मा पवित्र होती जाती थी। अपना कोई काम उन्होंने नहीं छोड़ा। मन पारमार्थिक चिंतन में अधिक लगता, समाचार-पत्रों में राजकीय, औद्योगिक और सामाजिक विषयों की अपेक्षा धार्मिक विषयों के लेख वे अधिक पढ़ते। पर यह परिवर्त्तन ऐसी गंभीरता से हुआ था कि इसको केवल वेही लोग परख सकते थे जिन्हें उनसे घनिष्ट संबंध रखने का सौभाग्य प्राप्त था। भोजन की मात्रा भी कम होने लगी। दाख का भी, जो उनको बहुत पसंद थी, खाना उन्होंने कम कर दिया। एक दिन रमाबाई ने भोजनोपरांत दस बारह दाखें दीं परंतु उन्होंने आधी खाकर शेष उन्होंने छोड़ दीं। रमाबाई के आग्रह करने पर आपने कहा—"तुम चाहती हो कि हम खूब खाँय, खूब पिएँ, परंतु अधिक खाने से क्या कभी जिह्वा की तृप्ति होती है, उलटी लालसा और बढ़ती है। सब लोगों को इन विषयों में नियमित रहना चाहिए।"

चाय के घूँट भी आप गिनती के पीने लगे। वे भोजन के अच्छे अच्छे पदार्थ थोड़े खाकर शेष छोड़ देते। रमाबाई पूछतीं—"क्या यह चीज अच्छी नहीं बनी ?" आप कहते "यदि तुमने बनाई है तो अवश्य अच्छी बनी है, परन्तु अच्छी होने का यह अर्थ नहीं है कि बहुत खा ली जाय। भोजन का भी कुछ परिमाण होना चाहिए।" रमाबाई ने इन्हीं दिनों चुपचाप उनके भोजनों के ग्रास गिनने शुरू किए। वे लिखती हैं कि वे ३२ ग्रास से अधिक न खाते थे।

जब पीड़ा होती डाक्टर बुलाए जाते। उनसे वे स्वयं विचारपूर्वक चिकित्सा संबंधी बातें करते परन्तु साथ ही यह भी कह देते कि दवा केवल साधन मात्र है। "मैं दवा इस लिये भी लेता हूँ कि लोग पीछे दोष न दें, और दूसरे जब तक मनुष्य जीवित रहे, उद्योग न छोड़ना चाहिए। इन्होंने डाक्टरों से कई बेर पूछा कि मेरा रोग क्या है ? परन्तु डाक्टर उनसे छिपाते थे। तब आपने मेडिकल कालेज से बहुत सी पुस्तकें मँगाकर पाँच छ दिन तक पढ़ीं और डाक्टर से कहा— "आप छिपाया कीजिए, मैं अपनी बीमारी का नाम आप ही बतला देता हूँ। क्या मेरी बीमारी का नाम 'एंजिना पेक्टोरिस' नहीं है ? यह बीमारी मेरे एक मित्र को भी हुई थी।" डाक्टर यह सुन कर कुछ घबरा से गए क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि रानडे को यह मालूम हो जाय कि उनका रोग भयंकर है। डाक्टर ने उत्तर दिया कि "लक्षण मिला कर इसे आपका एंजिना पेक्टोरिस कहना बहुत ठीक है। पर

आपको कल्पना के कारण ही इस रोग का भास होता है। इसका असल नाम "स्यूडो एंजिना पेक्टोरिस है। इसमें रोगी को कल्पना मात्र के कारण ठीक उसी रोग का भास होता है। इस प्रकार के बहुत से रोग हैं जिनके वास्तव में न होने पर भी रोगी के मन पर उसका बड़ा प्रभाव और परिणाम होता है। यह भी उन्हींमें एक है।"

रानडे ने कहा—"इसमें कुछ "स्यूडो" (असत्य) अवश्य है। यह बीमारी ही "स्यूडो" है और नहीं तो कम से कम मुझे समझाने के लिये आपका यत्न ही "स्यूडो" है।" रानडे ने यह कहा था कि "मेरे एक मित्र को भी यह बीमारी हुई थी" इसका विवरण उन्होंने रमाबाई को, संध्या समय बुला कर सुनाया–"कोई ३५ वर्ष हुए विष्णुपंत रानडे नामक हमारे एक मित्र थे। उनका स्वभाव शांत, उदार और बहुत अच्छा था। शरीर से भी वे अच्छे और बलवान् थे। उन्हें कोई व्यसन नहीं था। एक वेर घोड़े से गिरने के कारण उन्हें एंजिना पेक्टोरिस नामक बिमारी हुई थी। यद्यपि वे तीन वर्ष बाद तक जिए तो भी उनका जीवन महासंशयात्मक बना रहा। इस लिये डाक्टरों ने उन्हें किसी प्रकार का श्रम न कर चुपचाप बिछौने पर पड़े पड़े पढ़ने लिखने से दिल बहलाने की राय दी। वे सदा घर में ही रहते और एक न एक आदमी उनके पास बैठा रहता। इतना होने पर भी एक दिन शौच के समय ही उनके प्राण निकल गए। इसलिये कोई नहीं कह सकता किस समय मनुष्य को क्या हो जायगा।"

रानडे बहुत दिनों से सोच रहे थे कि पेंशन लेकर देश-सेवा करें। अब उन्होंने छुट्टी लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

१९०० की कांग्रेस के अधिवेशन के दिन निकट आ रहे थे। सोशल कानफरेंस में जाने की तैयारी उन्होंने शुरू कर दी थी। बीमारी होने पर भी वे समाज-संशोधन संबंधी विवरण एकत्र करते, पत्रों का उत्तर देते, भिन्न भिन्न संस्थाओं से आई हुई रिपोर्टों का सारांश लिखते। उन्होंने "वशिष्ठ और विश्वामित्र" शीर्षक लेख सोशल कानफरेंस में पढ़ने के लिये तैयार किया। इन सबसे जो समय बचता उसमें वे लाहौर जाने की तैयारी करते। बीमारी के कष्ट के कारण रमाबाई को भी साथ ले जाने का निश्चय हुआ। पूना के मित्र भी पहुँच गए। रेल के कमरे रिज़र्व करा लिए गए। जिस दिन जाना निश्चय हुआ उसके एक दिन पहले अधिक परिश्रम के कारण रात को पेट का दर्द बहुत बढ़ गया। पीड़ा देर तक रही। रात भर नींद नहीं आई। बेचैनी बहुत बढ़ गई। सबेरे डाक्टर भालचंद्र बुलाए गए। पूना के मित्रों को भी सब हाल मालूम हुआ। सब ने लाहौर-यात्रा करने से मना किया। श्री० गोपाल कृष्ण गोखले ने समझाया कि डाक्टर का कहना मानना ही अच्छा है और कहा—"जो काम करने हों, मुझे बतलाइए, मैं आपके कथनानुसार सब कर लूँगा।" रानडे ने कहा—"अब सब काम तुम्हीं करोगे जी। यह सब तुम्हीं पर आ पड़ेगा। सब काम ठीक ठीक होगा, इसका ज़िम्मा तुम लो।" अंतिम वाक्य उन्होंने दो तीन बेर कहे। गोखले मौन रहे। रानडे का स्थानापन्न बन कर पूरी ज़िम्मेदारी लेना साहस का काम था।

रमाबाई के समझाने पर उन्होंने ज़िम्मा लिया। इस पर रानडे ने कहा—"अठारह वर्ष तक बराबर जा कर अब यह विघ्न पड़ रहा है" यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू आ गए। अपना व्याख्यान उन्होंने गोखले के सपुर्द किया और अपने सौतेले भाई आबासाहब को पूनावालों के साथ लाहौर भेज दिया। अपनी अनुपस्थिति पर क्षमा-प्रार्थना का तार लाहौर भेज दिया और सब लोगों को ताकीद कर दी कि सोशल कानफरेंस के निर्विघ्न समाप्त होने पर एक तार भेज दें।

जिस दिन और लोग पूना गए उसी दिन रानडे घरवालों के साथ लोनावली गए। वहाँ पूना के मित्र उनसे मिलने आए और सबने पूना चलने का आग्रह किया। इसी बीच में लाहौर के यात्री भी वापिस आ गए। वहाँ का विवरण सुन कर मन का बोझ हल्का हुआ। इसके बाद समाचार पत्रों में गोखले और चंदावरकर के भाषण पढ़ कर उन्होंने उनको अपने हाथ से पत्र लिखे जिनका आशय यह था—"मुझे यह देख कर बड़ा संतोष हुआ कि भविष्य में यह भार उठाने के लिये तुम दोनों योग्य हो गए हो। इस संबंध में मुझे जो चिंता थी वह अब कम हो गई।"

लोनावली में उनका कष्ट बढ़ गया। इस लिये दस दिन के बाद वे फिर बंबई आ गए। वहाँ आकर कुछ फ़ायदा मालूम होने लगा और नियमानुसार लिखना, पढ़ना और टहलना जारी हो गया। ८ जनवरी १९०१ से उन्होंने छ मास की छुट्टी ली और यह निश्चय कर लिया कि छुट्टी समाप्त होने पर पेंशन ले पूना जा कर रहेंगे। घरवालों को समझाया कि अब

खर्च कम करना पड़ेगा क्योंकि आमदनी कम हो जायगी। छुट्टी मञ्जूर हो गई और सरकारी चपरासी और सिपाही इनाम देकर कचहरी भेज दिए गए। सिपाही रोने लगे। एक चोबदार ने कहा कि दो सिपाही रख लिए जाँय और दो भेज दिए जाँय, क्योंकि नियमानुसार छुट्टियों में भी हाईकोर्ट के जज के दो अर्दली रह सकते हैं। रमाबाई ने कहा—"नहीं, हाईकोर्ट का यह नियम हो सकता है पर हमारा नियम ऐसा नहीं है।' इस पर सब चपरासी दीवानखाने में रानडे के पास जाकर पैरों पर सिर रख रोने लगे। चले जाने पर फिर फिर कर वे लोग पीछे देखते थे।

रानडे ने इस समय पूना चलने की पूरी तैयारी कर ली। जिस बँगले मे वे रहते थे उसक मालिक को भी उन्होंने लिख भेजा कि बँगला एक महीने के अदर खाली हो जायगा। बँगलेवाले ने दूसरे ही दिन दर्वाजे पर 'किराए पर देना है' का इश्तिहार लगा दिया। इस पर उनके घरवालों ने बड़ा बुरा माना। रानडे ने कहा इसमें बुरा मानने की बात नहीं। घर की स्त्रियाँ कहतीं कि दूसरे ही दिन "To let" (टू लेट) की तख्ती लगानी थी तो केवल छ महीने के लिये घर छोड़ने की क्या जरूरत थी। रानडे ने बातचीत में कह दिया—"हमारी तबियत का हाल तुम लोग नहीं देखतीं ? क्या तुम लोग समझती हो कि यह छुट्टी समाप्त करके मैं लौट आऊँगा।"

इस असह्य दु ख और चिंता के समय यह मालूम होता था कि रानडे अपने कष्ट को चुपचाप सहन कर रहे हैं। यदि कोई तबियत का हाल पूछता तो कहते—"हाँ, चला ही चलता

है। कभी अच्छे हैं तो कभी बीमार। व्याधि तो शरीर के साथ है। दवा हो ही रही है" अथवा "अह! मुझे तो सदा ऐसा ही होता है, इस लिये कहाँ तक इसका ख्याल किया जाय। मुझे कुछ विकार हो गया है उसीके कारण कभी कभी ऐसा होता है"–इत्यादि। परंतु घर के लोग और इष्ट मित्र समझ रहे थे कि अब ख़रावी आनेवाली है। इनके सामने तो सब गंभीर बने रहते थे पर इनके पीछे चिंतित अवस्था में ये लोग रोने लगते। रानडे ने अपने हृदय का विचार दबाने के लिये शांति से बोलना शुरू किया। वे अपना मन कष्ट चुपचाप सहन कर लेते। किसी दूसरे पर यथाशक्ति प्रगट न होने देते। सारा दिन लिखने पढ़ने मे विताते। यदि शरीर के किसी भाग में दर्द बहुत बढ़ जाता तो तेल लगवा लेते। देखनेवाले समझते थे कि किसी गंभीर विचार में मन लगा हुआ है। शांति में भेद एक दिन भी न पड़ा। मालूम होता था कि मानसिक बल और शारीरिक पीड़ा में युद्ध हो रहा है और पहले के सामने दूसरे का कुछ ज़ोर नहीं चलने पाता। बिछौने पर पड़ कर वे अवश्य कॉंखने लगते थे। बहुत चेष्टा करने पर भी कठिनाई से कुछ निद्रा आती थी परंतु जागते रहने पर इस तरह पड़े रहते मानो सोए हैं, जिससे और लोगों की नींद में फ़र्क न पड़े। सबेरे नियमानुसार उठ कर वे नित्यकर्म में लग जाते। दो पहर को भोजन के पश्चात् जब बातचीत करने बैठते तब प्रत्येक बात उपदेशपूर्ण कहते, उसमें चिंता या निराशा का लेशमात्र न रहता। बच्चों से भी कुछ हँस बोल लेते।

इसी प्रकार कई दिन बीत गए। १४ जनवरी को पैर में सूजन आ गई जिसके कारण घर के लोग घबरा गए। परंतु डाक्टरों ने आश्वासन दिया कि घबराने की कोई बात नहीं है। उस दिन की रात को पीड़ा भी अधिक हुई। दूसरे दिन उनकी दृष्टि भी अपने सूजे हुए पैरों की तरफ गई। भोजन करने की ओर भी उस रोज़ रुचि नहीं थी। ग्रास थाली से उठा कर फिर उसीमें रख दिया। कई दिन से घर के लोग उनके पीछे पड़े थे कि पढ़ना-लिखना छोड़ दें परंतु वे चुप रहते। इस दिन बहन के कई बेर कहने पर उन्होंने कहा-"बहुत अधिक कष्ट को कम करने के लिये यह तो साधन मात्र है, और विश्रांति का अर्थ क्या है? जिस पढ़ने में मन लगता है, समाधान होता है और छोटी मोटी वेदना यों ही भूल जाती हैं उसे छोड़ने से क्या विश्रांति मिलगी? बिना कोई काम किए निरर्थक जीवन बिताने का समय यदि आजाय तो तत्काल ही अंत हो जाना उससे कहीं अच्छा है।"

उसी दिन जब सब लोग खाना खा चुके तब आप रमाबाई की ओर देख कर हँसे और बोले—"आज तुम्हारा भोजन अच्छा नहीं बना, इस लिये मुझे भी भूख नहीं लगी।" जिन पातिव्रत्य भावों का उद्गार उस दिन रमाबाई के चित्त में हुआ उनका परिचय उन्हींके शब्दों में यहाँ कराना उपयुक्त होगा। वे लिखती हैं—"मुख-शुद्धि के लिये फल और सुपारी देकर मैं ऊपर चली गई और किवाड़ बंद कर एक घंटे तक वहाँ पड़ी रही। जब मुझे अपने पागलपन का ध्यान आया तब मैं

अपने आपको बुरा भला कहती हुई नीचे उतरी। कभी आशा और कभी निराशा और उसके बाद कुकल्पना ने मुझे पागल कर दिया था। किसी काम में मन नहीं लगता था। कभी स्त्रियों में जा बैठती और कभी आपके पास दीवानखाने में चली जाती। मैं बहुत चेष्टा करती थी कि इस दुष्ट मन में टेढ़ी मेढ़ी कल्पनाएँ न उठें परंतु वह मानता ही न था। मैं किसकी शरण जाऊँ? मेरा संकट कौन दूर करेगा? ईश्वर! मेरी लाज तेरे हाथ है। आज तक कैसी कैसी बीमारियाँ हुईं, परंतु तूने ही समय समय पर रक्षा करके मुझे जिस भाग्य-शिखर पर चढ़ाया है, आज क्या उसी शिखर पर से तू मुझे नीचे ढकेल देगा? नहीं, मुझे विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा। नारायण, मेरे होश सँभालने के समय से मेरे सारे सुख और आनंद का केंद्र यही रहा है। इस लिये तू ही इसे सँभाल। मुझे शांति दे। इससे अधिक सुख मैंने किसी बात में नहीं माना। संसार में बाल बच्चों के न होने का विचार मेरे मन में नहीं आया। मैं इस सहवास में संतुष्ट और लीन हूँ। राजों, महाराजों और जागीरदारों की स्त्रियाँ संतानें और अधिकार वैभव में चाहे कितनी ही बड़ी हों तो भी मुझसे अधिक सुखी नहीं हैं। आपकी प्राप्ति से मुझे जो समाधान है उसकी उपमा नहीं है। ईश्वर इस समय रक्षण करने में तू ही समर्थ है।"

रानडे भी समझ रहे थे कि चारों ओर घर में व्याकुलता छाई हुई है। वे जानते थे कि यह समय रमाबाई के लिये अत्यंत क्लेश का है, इस लिये वे उनको अपने पास बैठने के लिये कहते। जब वे कहीं जाने लगतीं, तब उँगली पकड़ कर

बैठा लेते और कहते—" कहीं जाने की जरूरत नहीं। अब कहाँ जाती हो, अभी तुम बीमारी से उठी हो, व्यर्थ नीचे ऊपर आने जाने का कष्ट न करो, जो काम हो लड़कों से कह दो या किसी नौकर को ही बुला कर यहाँ ठहरने के लिये कह दो जिससे तुम्हें घड़ी घड़ी न जाना पड़े।"

इन दिनों रात के समय डाक्टर घर ही पर रहने के लिये बुला लिए जाया करते थे। परंतु बुधवार १६ जनवरी का दिन प्रगट रूप में बड़ा भाग्यवान् था। रानडे का चित्त उस दिन बड़ा स्वस्थ था। डाक्टर को उस दिन उन्होंने स्वयं टेलीफोन के द्वारा सूचना दी कि आज रात को कष्ट करने की जरूरत नहीं। दिन भर का काम करके सायंकाल रमाबाई और अपने भाई के साथ गाड़ी पर वे हवा खाने गए और उन्हीं के साथ एक मील टहले। उन्हीं दिनों दुर्भिक्ष कमीशन भारतवर्ष में घूम रही थी। जयपुर के दीवान रायबहादुर कांतिचंद्र मुकर्जी उसके सभासद थे। जब कमीशन नागपुर पहुँची तब राय कांतिचंद्र बहादुर की अचानक मृत्यु हो गई। रानडे जब घर पहुँचे, इस मृत्यु का तार-समाचार उनको सुनाया गया। उन्होंने कहा—" काम करते हुए मरना भी कैसा आनंददायक है।" इसके बाद उन्होंने १८ पत्र लिखवाए, जस्टिन मैकार्थी कृत History of our own Times का एक अध्याय पढ़वा कर सुना और मिलनेवालों से बातचीत की। वे उन दिनों मिलनर कृत इसाई धर्म का इतिहास भी पढ़ा करते थे।

उस समय भाटिया जाति की एक अल्पवयस्का कन्या विधवा हो गई थी। उन लोगों में कभी विधवा-विवाह नहीं हुआ था। इसलिये इस संबंध में रानडे से सलाह लेने बहुत से लोग आए थे। लोगों ने सोचा था कि इस जाति में नई बात होने के कारण बंबई के उस समय के गवर्नर की स्त्री लेडी नार्थकोट को विवाह के समय बुलाना चाहिए। रानडे ने इस प्रस्ताव को पसंद किया। रमाबाई से प्रार्थना की गई कि वे लेडी नार्थकोर्ट से इस संबंध में मिलें। रमाबाई ने कहा कि यदि रानडे की तबियत अच्छी रही तो मैं जाऊँगी। इसके बाद रानडे ने विवाहवालों की जाति, अवस्था, संबंध इत्यादि विषयक प्रश्न पूछे और भाटिया जाति का इतना हाल उन्होंने स्वयं बतलाया कि सुननेवालों को उनके ज्ञान-विस्तार पर आश्चर्य हुआ। उन लोगों के चले जाने पर उन्होंने भोजन किया। तब घर की स्त्रियों ने प्रार्थना-समाज की भजनावली के कुछ गीत सुनाए। पीड़ा उठने का समय निकट आ रहा था, उसके लक्षण मालूम हो रहे थे। रात के ९-४५ पर वह बिछौने पर जा सोए और आध घंटा अच्छी नींद आ गई। १०-१५ पर उनकी नींद एकाएक खुली और उन्होंने कहा कि मेरे कलेजे पर थोड़ा थोड़ा दर्द उठ रहा है। थोड़ी ही देर में इतना दर्द बढ़ गया कि वे बोले—"इस दर्द से मरना अच्छा"। तुरंत डाक्टर सर भालचंद्र को बुलाने के लिये टेलीफोन किया गया। पड़ोस में एक पारसी डाक्टर रहते थे। वे भी बुलाए गए। पर डाक्टर के पहुँचने के पहले उनकी अवस्था बिगड़ चुकी थी। पतिव्रता रमाबाई के कंधे पर

अपना सिर रख कर उन्होंने कहा—"अब मेरा अंत समय आ गया।" इसके बाद क़ै हुई जिसमें खून निकला और १०-३० के क़रीब आत्मा उनके शरीर से विदा हो गई। जो सोलह जनवरी सबेरे बड़ी भाग्यवती मालूम होती थी वह बड़ी अभागिनी निकली। जो शरीर दिन के समय आल्हादित मालूम होता था वह केवल बुझती हुई ज्योति का अनुकरण कर रहा था। जिस महापुरुष ने ३५ वर्ष तक अपने देश का सिर ऊँचा करने के लिये अपनी विद्या, बुद्धि और परिश्रम से निरंतर उद्योग किया और एक दिन भी विश्राम न किया वह भी अंत मे शांति को प्राप्त हुआ। घर के लोगों की रात कटनी मुश्किल हो गई। जिस सौतेली माता को उन्होंने जीवन में निज मातृ-तुल्य समझा था उसको यह मालूम होता था कि मानो अपना जाया पुत्र उससे अलग हो गया, जिस बड़ी बहन की आज्ञा का उल्लंघन करना वे अपने सिद्धांत के विपरीत समझते थे उस दुर्गा बहिन को उस दिन प्रतीत हुआ कि वह भाई जिसके जीवन के उद्देश्य में बाधा डाल कर उनके आदर्श को वह न बदल सकी, कैसी दैवी शक्ति का महानुभाव था, जिन सौतेले भाइयों नीलकंठ आबा और श्रीपाद बाबा को वे अपने सगे भाई के समान समझते, थे उन लोगों के दुःख की कोई सीमा नहीं थी, पर हा! एक महापूजनीया देवी भी उसी शोकसागर में डूबी हुई थी। उसका जीवन इस महापुरुष के जीवन के साथ गुथा हुआ था, पर काल ने उसको भी अपनी कठोर परीक्षा में डाल ही दिया। इस देवी का अभ्युदय इस महापुरुष की कीर्ति का एक असाधारण स्तंभ है।

दूसरे ही दिन प्रातःकाल समस्त बंबई नगर मे इनका मृत्यु-समाचार फैल गया। जिन्होंने एक दिन पहले सायंकाल उनको टहलते देखा था उन्हें थोड़ी देर तक इस समाचार पर विश्वास नहीं हुआ। परंतु सबेरे के समाचार-पत्रों द्वारा सूचना पाते ही उनके बँगले पर लोगों की भीड़ जमा होने लगी। सबसे पहले चीफ़ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस फूलों की एक बड़ी माला लिए हुए पहुँचे। हाईकोर्ट के कई जज, बंबई के प्रसिद्ध नेता और देशभक्त, धनाढ्य और पंडित एक दूसरे के बाद आने लगे। १० बजे ठीक मुर्दा उठाया गया। सब लोग साथ हो लिए। हाईकोर्ट के अंग्रेज़ जज भी कुछ दूर तक साथ गए। चीफ़ जस्टिस भी वहाँ तक जाना चाहते थे पर लोगों के मना करने पर वे भी बीच ही में से चले गए। रास्ते मे एलफिंस्टन, मेडिकल और विलसन कालेजों के और आर्यन सोसायटी हाईस्कूल के विद्यार्थी आ मिले और सब चेष्टा करते थे कि शव के उठाने का अवसर मिले। रानडे को विद्यार्थियो से बड़ा प्रेम था। उनसे वे सदा प्रसन्नता से मिलते थे और उनकी उन्नति के साधन सदा सोचा करते थे। जिस तरफ़ से मुर्दा जाता, हिंदू, मुसलमान, पारसी जो गाड़ियों पर सवार, रास्ते मे मिलते गाड़ी से उतर जाते। १२ बजे तक सब लोग मरघट पर पहुँचे। चंदन की लकड़ियों पर शव रक्खा गया, उनके सौतेले भाई नीलकंठराव ने दाह संस्कार किया। घर के लोगों ने पौराणिक रीति से अंत्येष्टि क्रिया की परंतु प्रार्थना-समाज के (जिसके रानडे सभापति थे) सभासदों ने अपने ढंग पर

सत्कार किया। दोनों सत्कार एक ही समय पर हुए। एक भ्रमात्मक किंवदंती मुसलमानों में उस दिन फैल गई कि इस मुर्दनी में मुसलमानों का रहना मना है। इस कारण मुसलमान नहीं आए। रानडे के मुसलमान मित्रों को बड़ा दु:ख हुआ, पर यह भ्रम दूर कर दिया गया। सर भाल्चन्द्र कृष्ण और मिस्टर वैग, हेडमास्टर आर्यनसोसायटी हाईस्कूल ने शोक प्रकाशक व्याख्यान दिए। जब शव जल चुका तब राख दूध से बुझाई गई और उनकी बहिन के इच्छानुसार प्रयाग लाकर त्रिवेणी में उसका प्रवाह किया गया।

समाचार सारे देश में फैला। तार और चिट्ठियाँ आनी शुरू हो गई जिनकी संख्या एक सहस्र कही जाती है। सहानुभूति प्रगट करनेवालों में बड़े लाट लार्ड कर्जन, बम्बई के लाट लार्ड नार्थकोट, महाराजा गायकवाड, महाराजा होलकर, महाराजा कोल्हापुर प्रभृति थे। वाइसराय ने अपने तार में लिखा था कि रानडे की मृत्यु से देश ने केवल एक प्रसिद्ध जज ही नहीं खोया परन्तु ऐसे देशभक्त को खोया है जिसने अपना सारा जीवन प्रेमपूर्वक अपने देशवासियों की उच्च धार्मिक उन्नति और विद्या-वृद्धि में लगा दिया। २२ जनवरी को गवर्मेंट ने एक पत्र प्रकाशित किया जिसका आशय यह था—

हिज एक्सेलेंसी दी गवर्नर-इन-कौंसिल ने आनरेबल मिस्टर जस्टिस महादेव गोविंद रानडे सी आई ई, एम ए, एलएल बी की जो बम्बई में हर मैजेस्टीज हाइकोर्ट ऑव जुडीकेचर के जज थे मृत्यु का समाचार बड़े दु:ख से सुना।

वह इस अवस्था में मिस्टर रानडे के परिवार के साथ सहानुभूति प्रगट करते हैं—मिस्टर रानडे की मृत्यु से देश से एक प्रसिद्ध और सच्चा देशभक्त उठ गया, जिसकी प्रसिद्धि उतनी ही उसकी विद्वत्ता की गंभीरता के कारण थी जितनी उसके विचार की सौम्यता और चरित्र की वीरोपम स्वतंत्रता के कारण। ''

समाचार-पत्रों ने रानडे के जीवन पर 'महामति रानडे' 'ऋषी रानडे' 'न्यायमूर्ति रानडे' शीर्षक बड़े बड़े लेख लिखे। यद्यपि अपने राजनैतिक विचारों के कारण वे भारतीय अंग्रेज़ों में सर्वप्रिय नहीं, थे परंतु इस समय इन्होंने भी मुक्तकंठ से इनकी योग्यता और उदारता स्वीकार की। एक पत्र ने लिखा कि यदि ये सरकारी नौकरी की तरफ प्रवृत्त न होते तो अपने समय के राममोहन राय होते।

अनेक नगरों में शोक प्रगट करने के लिये सभाएँ हुईं। जिस प्रकार हर दल के समाचार पत्र इस शोक में सम्मिलित हुए उसी प्रकार हर दल के नेता सभाओं में आए। पूना की मीटिंग में श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक, जिनसे सोशल कानफरेंस के संबंध में रानडे से सं० १८९५ में मतभेद हुआ था, व्याख्यान देते हुए शोक से इतने विह्वल हो गए थे कि बोलना मुश्किल हो गया और वे बोलते बोलते बैठ गए। तिलक महाशय ने अपने 'मराठा' पत्र में रानडे के चरित्र की वृहत् समालोचना की जिसके एक अंश का यहाँ अनुवाद किया जाता है—

" सर्वज्ञ-विद्वत्ता, सार्वजनिक सहानुभूति और पवित्रतम देशहितैपिता रखनेवाले इस महापुरुष की मृत्यु से जाति की

कितनी क्षति हुई है, इसका अदाज़ा करना कठिन है। वे यथार्थ में उन्नीसवीं शताब्दी के एक पुरुष थे जिनको एक शताब्दी भी अपने पेट से जिसमें सदा उत्पत्ति होती ही रहती है, कठिनाई से पैदा कर सकती है। उनकी मृत्यु से जनता ने एक प्रदर्शक, दिव्यद्रष्टा और मित्र खो दिया।"

बम्बई के टाइम्स ऑव इंडिया ने जो अंग्रेजों का पत्र है लिखा—"भारतवासियों में सबसे प्रबल और सबसे अधिक श्रद्धा उत्तेजक पुरुष हमलोगों में से चल बसा। हम लोगों को गत शताब्दी के पूर्व भाग के इतिहास में राममोहन राय का दृष्टांत रानडे की समानता पाने के लिये ढूँढ़ना पड़ता है कि जिसमें अनेक प्रकार के गुण और भिन्न भिन्न विषयों की योग्यता हो, जिसका राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सब विषयों पर पूर्ण अधिकार हो और उसका प्रभाव पड़े। उनके मस्तिष्क की शक्तियाँ विलक्षण थीं। अंतिम शब्द जो उनके विषय में कहा जा सकता है वह यह है कि देश-सेवा में अब तक जितने आदमियों ने नाम पाया है उनमें से कोई भी इनके बराबर क्रोध और वैमनस्य से रहित नहीं था।"

दादाभाई नौरोजी ने जो उनके गुरु थे यह लिखा—"मैंने इस समाचार को बड़े दुःख से सुना। मुझे यह बड़ी जातीय-क्षति मालूम होती है। रानडे का सा दूसरा मिल ही नहीं सकता। उनका स्थान खाली रहेगा। सर्वसम्मति से समस्त भारत में वह प्रथम श्रेणी के भारतवासी थे, विशेष कर समाज संशोधन के निरंतर कार्य में। उनका सारा मन और उनकी आत्मा भारत की भलाई के साथ गुथी हुई थी।

कई देशभक्त लोगों के वे पथ-प्रदर्शक और नेता थे। उनकी बुद्धि और सलाह पर आदमी भरोसा कर सकता था। जो उनका कुछ भी हाल जानता है उसको ऐसा मालूम होगा कि मानो उसके घर ही का आदमी मर गया। उनका आदर हर जाति और हर समाज में था। भारत की उन्नति के इतिहास में उनकी स्थिति निराली ही थी। यदि किसी कार्य में वे सरकारी नौकर होने के सबब से खुल्लमखुल्ला काम नहीं कर सकते थे तो उसमें भी कार्यकर्त्ता लोगों को उनसे बड़ी बुद्धिमत्ता की सलाह मिलती थी।"

रानडे की मृत्यु पर शोक प्रगट करने के लिये जितनी सभाएँ हुईं उनमें से दो बड़े महत्त्व की थीं। एक बंबई की जिसमे उस प्रांत के गवर्नर लार्ड नार्थकोट ने सभापति का आसन ग्रहण किया था और दूसरी पूना की जिसमें सर चार्लस् ऑलिवंट जो उस समय बंबई प्रांत की कौंसिल के सीनियर मेंबर थे, सभापति हुए थे। दोनों में हिंदू, मुसलमान और अंग्रेज शरीक हुए थे। बंबई की सभा में हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस ने और पूना की सभा मे डाक्टर सेल्बी ने जो आगे चल कर उस प्रांत के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हुए, बड़े करुणोत्पादक व्याख्यान दिए। चीफ़ जस्टिस साहेब ने प्रायः वेही बातें कहीं जो उन्होंने हाईकोर्ट में कही थीं—"रानडे न केवल योग्य और प्रसिद्ध जज थे बल्कि एक बड़े और अच्छे आदमी थे जिनकी मृत्यु एक प्रकार से सामाजिक विपद समझनी चाहिए। उनकी मृत्यु दुखदायिनी है, जो एक प्रकार से दु:खांत नाटक की नाईं हुई। जिस

छुट्टी में इतने वर्षों के परिश्रम के उपरांत कुछ विश्राम आवश्यक था और जिसके अनंतर हम सब लोग समझते थे कि वे फिर भले चंगे होकर उसी उत्साह से कार्य करेंगे, जैसा वे किया करते थे, उस छुट्टी के आरंभ ही में वे अचानक चल बसे, मरे भी ऐसे समय में जब वे अपने देश के साहित्य की अमूल्य सेवा में लगे हुए थे, जब उनके देशवासियों के जिनकी भलाई उनके हृदय में रहती थी इतिहास का ऐसा कठिन समय आ गया था कि उनकी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, सौम्यता और सहानुभूति की आवश्यकता थी। अपने जीवनकाल में उन्होंने अपने उत्कृष्ट उद्देशों और आशाओं में बड़ी सफलता प्राप्त की और जितनी प्रतिष्ठा, जिसकी उन्होंने कभी चाह नहीं की, उनकी की गई वह सचमुच उनके गुणों और उनकी योग्यता के कारण थी। अब वे चल दिए परंतु उनकी याद हमारी सुरक्षित संपत्ति होगी क्योंकि वे अपने पीछे बहुमूल्य धन छोड़ गए हैं जो उनके सात्विक, निश्छल और उच्च-जीवन का उदाहरण है "—इत्यादि।

डाक्टर सेल्वी ने जो अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे, रानडे के विद्यानुराग की प्रशंसा की—" उनको सत्य की खोज की धुन थी और जो सत्य है उसी को वे मानते थे। उनके भाव विशाल थे "—इत्यादि।

बंबई और पूना की सभाओं ने निश्चय किया कि उन दोनों नगरों में उनके स्मारक बनाए जाँय। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अपने अपने नगरस्थ स्मारक के लिये पूना के लोग दक्खिन भाग में और भारत के अन्य प्रांतों में धन एकत्र करें

और बंबई के लोग बंबई नगर में और बंबई प्रांत के अन्य हिस्सों में। बंबई के स्मारक का रूप रानडे की एक मूर्त्ति है जिसका निर्माण प्रसिद्ध भारतवासी म्हात्रे ने किया है और पूना के स्मारक का रूप रानडे इंस्टीट्यूट नाम की संस्था है। इस इंस्टीट्यूट के लिये एक लाख रुपया जमा किया गया जिसमें से ८० हजार केवल दक्खिनप्रांत का है और मध्य-देश ने ११०००) तथा बरारवालों ने २५००) जमा किया। शेष इधर उधर से आया। इस धन के व्याज के अतिरिक्त म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों और देशी रियासतों से भी वार्षिक आय हो जाती है जिससे यह संस्था चल रही है। १५ अक्तूबर १९१० को सर जार्ज क्लार्क ने (जो अब लार्ड सिडनहम हैं) इसको खोला। इस संस्था के उद्देश्य निम्न लिखित हैं—

(१) देश में औद्योगिक, कलाकौशल संबंधी और वैज्ञानिक-शिक्षा का प्रचार।

(२) अन्य देशों की ऐसी ऐतिहासिक, गणनात्मक और अन्य प्रकार की बातों को जमा करना जिनसे भारत की औद्योगिक उन्नति में लाभ हो।

(३) समय समय पर भारत की आर्थिक अवस्था, आवश्यकताएँ और आशाओं पर योग्य पुरुषों की समालोचनाओं को प्रकाशित करना।

(४) धन मिलने पर ऐसे विद्यार्थियों का जो विज्ञान, इंजिनिअरिंग और अन्य कलाकौशल में योग्यता रखते हों और जिनकी रुचि भी इस ओर हो, विलायत, जापान और अन्य देशों में उन वस्तुओं का बनाना सीखने के लिये भेजना

जिनके बनाने की सामग्री इस देश में बहुतायत से मिलती है और इस कारण जिनके बनाने में फायदा है।

(५) ऐसे विद्यार्थियों को भारत में लौटने पर इस बात की सुगमता प्रदान करना कि वे थोड़े थोड़े प्रयोगों द्वारा निश्चय कर सकें कि जिन वस्तुओं का बनाना उन्होंने सीखा है उनके तैयार करने में वे कृतकार्य किस प्रकार हो सकते हैं।

(६) अन्य रीतियों द्वारा इस देश की औद्योगिक अवस्था को सुधारना।

इस संस्था में तीन विभाग हैं—

(क) कलाकौशल प्रवर्त्तक रासायनिक प्रयोगशाला, जिसके लिये आरंभ ही में दस हजार रुपए का सामान आया था।

(ख) औद्योगिक विषयों संबंधी संग्रहशाला जिसमें एक पुस्तकालय है और एक अजायबघर है। पुस्तकों और अजायबघर की वस्तुओं का संग्रह ऐसा है जिससे भिन्न भिन्न देशों की कारीगरी और इस देश की भावी औद्योगिक उन्नति का पता लगता है। इस संबंध में किसी प्रकार की यदि कोई जिज्ञासा करना चाहे तो उसको उचित परामर्श देने का भी प्रबंध है।

(ग) छात्रवृत्ति कोष जिससे उन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने का प्रबंध किया जाता है जो प्रयोगशाला में काम समाप्त कर चुकते हैं। जिस रोजगार की ओर उनकी प्रवृत्ति होती है उसके संबंध में भारत के भिन्न भिन्न भाग में जाकर उनको अनुसंधान करना पड़ता है। अपने देश में घूम आने के बाद यदि वे विदेश जाना चाहें तो उसका भी प्रबंध किया जाता है।

इस स्मारक का सबसे उपयोगी अंग उसकी प्रयोगशाला है। इसका एक अवैतनिक डाइरेक्टर होता है। एक सहायक डाइरेक्टर भी नियुक्त होता है जो विज्ञान में एम. ए. होता है। इसमें जो विद्यार्थी प्रयोग करते हैं, उनके भोजनादि का व्यय दिया जाता है। अभी तक सीमेंट, तेल, साबुन, मोमबत्ती, दियासलाई, चीनी इत्यादि संबंधी उद्योगों का प्रयोग सिखलाया जाता है। इस समय इसका प्रबंध फर्ग्युसन कालेज के एक अध्यापक के अधीन है। इस स्मारक का यश माननीय गोखले को है क्योंकि उन्होंने इसके लिये बड़ा परिश्रम किया था।

उनका एक स्मारक मद्रास में है। इसका नाम रानडे पुस्तकालय है। इसकी नींव मद्रास निवासियों ने २४ जुलाई १९०४ को माननीय गोखले से दिलवाई थी। इस पुस्तकालय में न केवल पुस्तकें और समाचार पत्र आते हैं वल्कि इसके साथ एक सौंउथ इंडिया एसोसिएशन है जिसमें इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, उद्योग और विज्ञान शास्त्र संबंधी पठन पाठन और अनुसंधान होता है। इस समय तक इस संस्था द्वारा इतिहास और अर्थशास्त्र संबंधी संतोषजनक कार्य हुआ है।

इनके साथ साथ अनेक स्मारकों की चर्चा अन्य स्थानों मे भी उठाई गई थी। अहमदावाद के सोशल कानफरेंस के अधिवेशन में समाज-संशोधन संबंधी स्मारक बनवाने का विचार था परंतु उसका कुछ विशेष हाल सुनने में नहीं आया। हमारे देश में जितने उत्साह से स्मारकों का प्रस्ताव उठाया जाता है उतने उत्साह से काम नहीं होता। इसके अनेक कारण

हैं। एक तो हमलेगों का जोश प्राय क्षणभगुर होता है। दूसरे अनेक धन देनेवाले वादा करके नहीं देते, । तीसरे ऐसे लोगों के स्मारक बनाने की चर्चा अधिक उठती है जिनके द्वारा लाभ के बदले हानि अधिक हुई है और चौथे अच्छे कार्य-कर्ताओं का अभाव है। । रानडे का सबसे बडा स्मारक माननीय गोखले थे। ईंट पत्थर के स्मारक बना ही करते हैं परतु रानडे के कीर्ति भवन के दो स्तभ सदा स्मरणीय रहेंगे। एक श्रीमती रानडे और दूसरे श्रीयुत् गोखले'। इन दोनों को देशभक्ति के लिये रानडे ही ने तय्यार किया था। श्रीमती रानडे की जीवन चर्चा ऊपर आ चुकी है। यहाँ गोखले महाशय का अत्यत सक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा, विशेष कर उनके जीवन का वह अश जिस पर रानडे का प्रभाव पडा था।

गोपाल कृष्ण गोखले।

इनका जन्म १८६६ ई० में जिला रत्नागरी मे हुआ था। एफ ए पास करने के बाद इन्होंने एल्फिस्टन (बबई) कालेज से १८८४ में बी ए पास किया। उस समय उनकी अवस्था केवल १८ वर्ष की थी। थोडे दिन न्यू इग्लिश स्कूल में अध्यापक रहने के बाद उन्होंने अपना जीवन फर्ग्युसन कालेज की सेवा करने के लिये समर्पण कर दिया। इस कालेज का प्रबध डेकन एज्यूकेशन सोसायटी के अधीन है। गोखले इसके स्थायी समासद हुए। स्थायी समासदों को प्रतिज्ञा करनी पडती है कि २० वर्ष तक कालेज में ७५) मासिक पर

कार्य करेंगे। २० वर्ष के बाद ३०) मासिक पेंशन मिलती है। गोखले इतिहास और अर्थ शास्त्र के अध्यापक हुए परंतु कभी कभी उनको अंग्रेजी साहित्य और गणित भी पढ़ाना पड़ता था। पढ़ाने के काम के साथ साथ आप छुट्टियों में इधर उधर जा कर कालेज के लिये भिक्षा माँगते थे। कहा जाता है कि थोड़ा थोड़ा करके उन्होंने इसी प्रकार २ लाख जमा किया था। चंदा माँगने के लिये बाहर जाने के कारण प्रायः प्रत्येक जिले के अग्रगण्य लोगों से उनसे परिचय हो गया था।

कालेज की सेवा के साथ साथ उन्होंने अन्य संस्थाओं मे भी काम करना आरंभ कर दिया। उन दिनों दाक्खिन प्रांत में रानडे की कार्यकुशलता, विद्वत्ता और देशभक्ति की बड़ी चर्चा थी। रानडे को नवयुवक लोगों से बड़ा प्रेम था। किसी होन-हार युवा को देख कर वे उसको तुरंत अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। रानडे और गोखले अनेक संस्थाओ के संबंध मे एक दूसरे से मिलने लगे। गोखले की श्रद्धा उन पर इतनी बढ़ गई कि वे सब कार्य उनसे पूछ कर करने लगे। सार्व-जनिक सभा उन दिनों राजनैतिक कार्यों में बड़ी प्रसिद्ध थी। गोखले उसके उपमंत्री थे। जब मंत्री का पद खाली हुआ लोगों ने गोखले को इस पद पर चुनने का प्रस्ताव किया। रानडे ने उनकी योग्यता की परीक्षा के लिये एक सरकारी विभाग की रिपोर्ट देकर उसका सारांश लिखने के लिये कहा। रिपोर्ट का विषय कठिन था। गोखले अपने जीवनकाल में अनेक बार इस कथा को बड़े अभिमान से कहा करते थे कि रानडे ने उनका लेख देख कर कहा था "हाँ, इससे काम चल

जायगा"। सार्वजनिक सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका थी। इसमें राजनैतिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख निकला करते थे, सरकारी रिपोर्टों की समालोचना और ऐतिहासिक तथा अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धांतों की विवेचना होती थी। इसके अतिरिक्त सभा की ओर से सरकारी नियमादि पर गवर्नर की सेवा में मेमारियल भेजे जाते थे। गोखले सभा की पत्रिका के सम्पादक थे और मेमोरियल आदि भी लिखा करते थे। यह कार्य रानडे और गोखले मिलकर किया करते थे। वे घंटों बैठ कर सरकारी रिपोर्टों को पढ़ते, जिस विषय की रिपोर्ट होती उस विषय के अन्य ग्रंथ भी मंगा कर पढ़े जाते। कभी कभी अन्य प्रांतों और दूसरे देशों की भी सरकारी रिपोर्टें मँगाई जातीं। गोखले लेख लिखकर रानडे को दिखलाते। उसका संशोधन होता या लेख के संतोषजनक न होने पर रानडे स्वयं लिख देते। लेखों का विषय प्रायः अर्थ संबंधी अथवा शासन संबंधी हुआ करता था। उन्हीं दिनों सुधारक नाम पत्र अंग्रेजी और महाराष्ट्र भाषा में निकाला गया। अंग्रेजी विभाग के सम्पादन का कार्य गोखले के सुपुर्द हुआ। कभी कभी गोखले महाराष्ट्र भाषा में भी, जिसके लिखने और बोलने का उनको अच्छा अभ्यास था, लेख लिखते थे। उन्होंने महाराष्ट्र भाषा में शिवाजी की एक काल्पनिक कहानी लिखी थी जिसमें महाराष्ट्र वीर के औरंगजेब के पंजे से निकलने पर तीर्थ स्थानों में घूमते हुए जगन्नाथपुरी जाने की कथा थी।

४ वर्ष तक गोखले सुधारक पत्र के सम्पादक, ९ वर्ष तक

पूना सार्वजनिक सभा के मंत्री और सभा की पत्रिका के सपादक रहे। बंबई की प्रांतिक कानफरेंस के भी वे ४ वर्ष तक मंत्री रहे। १८९५ की कांग्रेस के जो पूना मे हुई थी मंत्रीदल में वे भी थे।

अब तक गोखले की प्रसिद्धि पूना नगर के बाहर केवल बंबई प्रांत तक फैली थी। परंतु १८९७ के अप्रैल महीने में यह पूना की दक्खिन सभा की ओर से वेलबी कमीशन को भारत की यथार्थ आर्थिक अवस्था बतलाने के लिये विलायत गए। इस काम के लिये कई संस्थाओं से भारत के अन्य अग्रगण्य नेता भी भेजे गए थे। गोखले अभी ३१ वर्ष के युवा थे। कमीशनवालों ने भारत के प्रतिनिधियों की बड़ी कड़ी परीक्षा ली। कई पुराने नेताओं के इज़हार बिगड़ गए पर गोखले प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बड़ी योग्यता से देते थे। इससे उनका नाम सारे भारतवर्ष में फैल गया। जो वक्तव्य गोखले ने कमीशन के लिये लिखा था उसमें रानडे ने बड़ी सहायता दी थी। ऐसे समय में जब कि गोखले का नाम देश मे फैल रहा था एक ऐसी घटना हुई कि जिसका उन पर बड़ा प्रभाव पडा। जब वे विलायत में थे बंबई में प्लेग फैला। इसके पहले यहा कभी यह महामारी नहीं फैली थी। इसलिये राजकीय कर्मचारी और प्रजा दोनों घबरा गए। प्लेग से बचाने के लिये सरकार ने जो नियमादि बनाए और जो कार्रवाइयाँ कीं उनसे देश में बड़ा असंतोष फैला। यहा तक कि दो यूरोपियन अफसर जो गवर्नमेंट हौस के भोज मे लौट रहे थे मार डाले गए। इससे विलायत में बड़ी चिंता फैली।

इधर गोखले के मित्रों ने उनको असंतोष की अवस्था लिखनी शुरु की। गोखले ने जवानी के जोश में आ कर इस विषय पर यहां आंदोलन आरंभ कर दिया। विलायत के समाचार पत्रों में लेख लिखे, पार्लियामेंट के समासदों को सुनी हुई सब व्यवस्था सुनाई। इस पर बंबई सरकार गोखले से अत्यंत अप्रसन्न हुई और उसने चाहा कि जो शिकायत उन्होंने विलायत में की उसको वे सिद्ध करें। इधर गोखले के मित्रों ने जिनके पत्रों के आधार पर उन्होंने आंदोलन उठाया था उनसे विनयपूर्वक प्रार्थना करनी शुरु की कि हमारा नाम न बतलाया जाय। जो मित्र प्रति सप्ताह पत्र पर पत्र लिखकर भेजा करते थे उनमें से एक भी साहसी न निकला। गोखले के हिंदुस्तान लौटने का समय आ गया। जो युवा बड़े उत्साह से देश-सेवा के लिये विलायत गया था, जो अपना कर्तव्य पालन करके जिसके लिये वहँ भेजा गया था अपना सिक्का जमा सका, वह अब स्वदेश में लौट कर सरकारी कोप का कवर बननेवाला है। उसके सब मित्रों ने उसको छोड़ दिया है। चारों ओर से खबर सुनाई दे रही है कि वह युवा जहाज़ से उतरते ही पकड़ा जायगा। गोखले के सामने अब तीन रास्ते थे। या तो वे अपने मित्रों का नाम बतला कर आप बच जाते या आप सजा पाने के लिये तैयार हो जाते या सरकार से क्षमा मांग लेते।

- जिस समय जहाज़ बंबई पहुँचा उनका एक भी मित्र उनसे मिलने नहीं पहुँचा। रानडे उस समय बंबई हाई-कोर्ट के जज थे परंतु तिस पर भी वे निर्भय हो कर उनसे

जहाज पर मिले। अंत में गोखले ने तीसरे उपाय का ही अवलंबन किया और सरकार को क्षमापत्र लिख दिया। कहा जाता है कि ऐसा करने की सलाह रानडे ने दी थी। कोई दूसरा आदमी ऐसी बड़ी घटना होने पर देश-सेवा छोड़ देता। परंतु गोखले ने प्लेग से पीड़ित लोगों की सेवा के लिये स्वयंसेवक लोगों की समिति बनाई और इसमें बड़े उत्साह से काम करना शुरु किया। सरकार ने एक प्लेग कमीशन बैठाई। उसके गोखले भी सभासद चुने गए।

१८९९ के आरंभ में वे बंबई की क़ानून बनानेवाली कौंसिल के सभासद चुने गए और दो वर्ष तक इस कौंसिल में रहे। १९०१ में वे बड़े लाट की कौंसिल के सभासद चुने गए। उन्हीं दिनों रानडे की मृत्यु हुई थी। गोखले ने फर्ग्युसन कालेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल रघुनाथ पुरुषोतम परांजपे को जो उनके शिष्य हैं उस समय एक पत्र लिखा था; जिसका अनुवाद नीचे दिया जाता है।

फर्ग्यूसन कालेज,
पूना।
१२ अप्रैल १९०१

मेरे प्यारे परांजपे,

जब मैंने आप को अपना पिछला पत्र लिखा था उसके अनंतर मेरे महान गुरु रानडे इस संसार से चल बसे। उनकी मृत्यु से मेरे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसको मैं शब्दों में प्रगट नहीं कर सकता। मुझे मालूम होता है कि मानो मेरे जीवन के सामने अचानक अंधेरा छा गया है और

की वे त्रुटियाँ वतलाते थे उस विभाग के सभासद सदा चौकन्ने रहते थे। वजेट वनाने में उन्होंने जितने प्रस्ताव पेश किए थे प्राय: सव स्वीकार किए गए थे। यों तो कौंसिल में उनके सव काम महत्व के हुए हैं परंतु उनकी कीर्ति उनके उस प्रस्ताव के लिये इतिहास में अंकित होगी जिसके द्वारा १९१२ में उन्होंने इस देश में प्रत्येक वालक को शिक्षा प्राप्त करने पर वाध्य करने की प्रेरणा की थी। यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ परंतु देश भर में उनके इस प्रस्ताव के कारण जाग्रति हो गई।

१९०४ के अंत में उन्होंने फर्ग्युसन कालेज छोड़ दिया। गोखले पूना की म्यूनिसिपैलिटि के १९०५ में सर्व सम्मति से सभापति चुने गए और दो तीन वर्ष तक वड़ी सुंदरता से वे काम करते रहे।

१९०५ में गोखले कांग्रेस के सभापति चुने गए जो उस वर्ष वनारस में हुई थी। वनारस कांग्रेस के वाद वे फिर विलायत गए। कहा जाता है कि लार्ड मार्ले और लार्ड मिंटो के समय में शासन मे जितने सुधार हुए,उनमें से वहुत से गोखले के वतलाए हुए थे, क्योंकि वे विलायत में सेक्रेटरी आव स्टेट और अन्य उच्च पदाधिकारियों से वहुत मिला करते थे। सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल में दो हिंदुस्तानियों का होना, वड़े लाट की कौंसिल में और प्रांतिक कौंसिलों मे भी एक एक हिंदुस्तानी का चुना जाना, कौंसिलों में सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों की संख्या का वढ़ना, उनको नए प्रस्ताव पेश करने का अधिकार देना इत्यादि सुधार गोखले के कारण हुए हैं। १९०७ में गोखले ने संयुक्त प्रांत और पंजाव के अनेक

नगरों में यात्रा की। उस समय राजनैतिक विषयों पर दो दल हो गए थे। एक गरम दल और दूसरा नरम दल। छोटे बच्चों पर गरम दल की गरमी चढ़ रही थी। गोखले ने अपनी इस यात्रा में हिंदू मुसलमानों में मेल, स्वदेशी, विद्यार्थियों के कर्तव्य इत्यादि विषयों पर व्याख्यान दिए। जिस स्थान पर वे जाते थे वहाँ हिंदू और मुसलमान दोनों उनका आदर करते थे और नरम और गरम दलवाले दोनों उनकी बातें श्रद्धा से सुनते थे। इस यात्रा का कष्ट उठाकर गोखले ने विद्यार्थी समाज पर बड़ा उपकार किया था क्योंकि उन दिनों अनेक स्थानों पर विद्यार्थीगण देश के नेताओं का निरादर करने पर उतारू हो गए थे।

१९१२ में गोखले दक्षिणी अफ्रिका गए। उनका तात्पर्य इस यात्रा में यह था कि भारतवासियों पर वहां जो अन्याय हो रहा था उसको दूर करें। इस बड़े महत्त्व के काम में भारतीय गवर्नमेंट ने और विशेष कर लार्ड हार्डिंज ने भी उनकी बड़ी सहायता की। गोखले के दक्षिण अफ्रिका जाने का वहां के लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वहां के भारतवासियों में बल और आशा का संचार आ गया और वहां के उच्च कर्मचारियों से उन्होंने स्वयं भेंट की।

गोखले का सब से बड़ा काम सर्वेंट आव इंडिया सोसायटी का स्थापित करना है। यह सोसायटी १२ जून १९०५ में पूना में स्थापित हुई थी। इसका उद्देश्य यह है कि शिक्षित लोग देश के काम के लिये तैयार किए जाँय। जो लोग इसमें शरीक होते हैं उनको त्याग का व्रत लेना पड़ता है, देश

की अवस्था जानने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करना पड़ता है, राजनैतिक और सामाजिक विषयों के ग्रंथों को नियमबद्ध पढ़ना पड़ता है, जहाँ कांग्रेस अथवा कनफरेंस इत्यादि होती है वहाँ जा कर पहले ही से काम करना पड़ता है, महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि से पीड़ित लोगों की सेवा करनी पड़ती है। इसके सभासदों को सात व्रत लेने पड़ते हैं—

(१) मेरे विचारों में देश का स्थान पहले होगा और उसकी सेवा में मैं उत्तमोत्तम जो गुण मुझमें है लगाऊँगा।

(२) देश की सेवा करने में मैं अपना लाभ नहीं सोचूँगा।

(३) मैं भारतवासी मात्र को अपना भाई समझूँगा, और जाति और धर्म के भेद को ध्यान में न लाकर सबकी उन्नति के लिये काम करूँगा।

(४) मैं अपना और अपने कुटुंब का पालन पोषण उतने धन से कर लूँगा जो 'सोसायटी' मुझे दे सकेगी। मैं अपने समय का एक अंश भी रोटी कमाने में नहीं लगाऊँगा।

(५) मैं अपना जीवन पवित्र रखूँगा।

(६) मैं व्यक्तिगत झगड़ों में नहीं पड़ूँगा।

(७) मैं सोसायटी के नियमों को सर्वदा दृष्टि में रखूँगा और पूर्ण रूप से इसके उद्देश्यों की वृद्धि करूँगा। कोई बात ऐसी नहीं करूँगा जो इसके उद्देश्यों से विपरीत हो।

१९१३ में गोखले पब्लिक सर्विस कमिशन में काम करते रहे। इस कमीशन के साथ वे भारत के कई स्थानों में और फिर इंग्लैंड गए। यह कमीशन इस उद्देश्य से बनाई गई

थी कि भारतवासियों को उच्च पदाधिकारी बनाने के प्रस्ताव पर विचार करे। जो लोग इज़हार देने जाते थे उनमें से कुछ तो भारतवासियों को सर्वथा या कई अंशों में अयोग्य समझते और कुछ लोग उनको पूर्णतयः योग्य समझते थे। गोखले ने एक बेर अपने मित्रों से कहा था कि इस कमीशन में बैठ कर दिन प्रति दिन यही सुनना कि भारतवासी अयोग्य हैं बड़ा दुःखदायी हो जाता है; परंतु ऐसे लोगों की गोखले तीक्ष्ण परीक्षा लेते। इस कमीशन के सभासदों में कई क़ानून जाननेवाले लोग थे पर उन्होंने कई बेर मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि गोखले के प्रश्न जो वे साक्षियों के प्रति करते थे बड़े मार्मिक होते थे। कमीशन का काम करते हुए वे कई बेर बीमार हुए, एक बेर विलायत में उनके बचने की आशा नहीं थी परंतु उनको तो अपना शरीर स्वदेश ही में छोड़ना था। उनको खेद केवल इस बात का रह गया कि वे इस कमीशन का फल न देख सके।

कमीशन का काम वे कर ही रहे थे जब उनको के. सी. आई ई. की उपाधि प्रदान हुई। उस समय वे विलायत में थे। उन्होंने धन्यवाद देते हुए तुरंत लिख भेजा कि उनको यह सम्मान स्वीकार नहीं है। उनको यह पसंद नहीं था कि वे 'सर' गोपाल कृष्ण गोखले कहलाते। यह बात भी प्रसिद्ध है कि एक बेर उनको सेक्रेटरी आव स्टेट के कौंसिल की मेंबरी प्रदान की गई थी परंतु उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया।

गोखले का देहांत शुक्रवार १९ फरवरी १९१५ को शांति-पूर्वक हुआ। उनकी अवस्था ४९ वर्ष की थी। अंत समय

तक उन्होंने काम किया । शुक्रवार के सवेरे ही से उनको ऐसा मालूम होने लगा था कि उनकी मृत्यु निकट आ गई है। उसी दिन उन्होंने अपने मित्रों, बहनों और लड़कियों से विदाई ली, अपने कागज पत्रों के संबंध में आवश्यक परामर्श किया। रात के नौ बजे अपने नौकरों से कहा—"जीवन के इस ओर का आनंद तो मैंने ले लिया अब मुझे उस ओर जा कर देखना है"। गोखले के जीवन पर रानडे का बड़ा प्रभाव पड़ा था। प्रत्येक विषय पर अध्ययन और मनन करके कुछ कहना, दूसरे पक्षवाले के तर्क को समझ कर उसको ठीक ठीक कहना और तब प्रेमपूर्वक उसका उत्तर देना, रात दिन देशहित कामों में लगे रहना, ये गुण रानडे ही की शिक्षा और उदाहरण से उनमें आए थे। १८९६ में गोखले ने बंबई ग्राज्युएट्स एसोसिएशन में शिक्षा प्रचार विषयक एक लेख पढ़ा था। उसके सभापति सर फीरोज़शाह मेहता थे। रानडे भी वहाँ उपस्थित थे। उन दिनों अमीर काबुल के पुत्र विलायत भ्रमण के लिए गए थे। जिनके लिये सरकार ने लाखों रुपया व्यय किया था। गोखले ने अपने व्याख्यान में जोश से कहा कि सरकार को अमीर काबुल के प्रतिनिधि के भ्रमण पर लाखों रुपया नष्ट करने को मिल जाता है पर शिक्षा प्रचार के लिये धनाभाव का बहाना ढूँढ़ना पड़ता है। रानडे ने तुरंत अपने व्याख्यान में अन्य बातों में गोखले से अपना सहमत होना प्रगट करने के उपरांत उनको सलाह दी कि अमीर काबुल संबंधी अंश को लेख के छपने पर निकाल दिया जाय। रानडे का मत यह था कि अपने पक्ष में कठोर युक्ति का अस्त्र

होना चाहिए, कड़वी और दिल दुखानेवाली बातों के कहने से कोई लाभ नहीं।

रानडे और गोखले में गुरु शिष्य का सबध था। गोखले को उन पर बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने कभी उनकी आज्ञा का उलघन नहीं किया। उनकी मृत्यु के उपरात भी बात बात पर उनको रानडे की कथा याद आ जाती। १९०५ की कांग्रेस के समय सोशल कांफ्रेंस के प्रधान मत्री के ठहराने के प्रबंध की चिंता में चरित्र लेखक गोखले से मिल कर उनसे यह पूछने गया कि क्या जिस स्थान में आप ठहरे हैं गुजाइश निकाल सकते हैं। सोच विचार कर उन्होंने कहा कि ऐसा करना कठिन है। अपने एक साथी की ओर देख कर मराठी में उन्होंने कहा– "महादेव (रानडे) की बात दूसरी थी, वे थोड़ी जगह में भी गुज़ारा कर लेते थे इत्यादि।"

गोखले से अधिक रानडे की जीवनी लिखने की योग्यता किसी दूसरे में नहीं थी। वे उनके गृहस्थ जीवन और सासारिक जीवन से भली भाति परिचित थे। बहुत दिनों तक उनकी इच्छा थी कि रानडे का चरित्र लिखें परतु अन्य कार्यों की भरमार ने उन्हें समय नहीं दिया।

गोखले को जब चिंता घेर लेती और उनका काम में मन न लगता तब वे रमाबाई के पास जाकर रानडे की चर्चा छेड़ देते, दोनों की आखों में आसू आ जाते और इस तरह दिल बहल जाता।

रानडे और गोखले, दोनों में से इतिहास की दृष्टि में किसने देश की सेवा अधिक की ? यह प्रश्न प्रायः उठा करता

है। लोग इसका मन माना अत्तर भी दे देते हैं। जिस प्रकार पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़े हुए दो आदमी जिनमें एक लंबा हो और दूसरा नाटा, नीचे से देखनेवाले को समान क़द के मालूम होते हैं उसी प्रकार हमारी दृष्टि में दोनों का दर्जा बराबर था। दोनों का चरित्र उत्कृष्ट था, दोनों के आदर्श ऊंचे थे। कम सोना, जितनी देर जागना काम करना, पुस्तकों से अनुराग, दूसरे पक्षवालों से प्रेमपूर्वक मिल कर उनको अपनी और खींचने का प्रयत्न करना, शिक्षा प्रचार की धुन, सरकार और जनता में समान आदर पाना, तिस पर भी स्वतंत्रतापूर्वक दोनों के गुण दोष बतलाना—इन बातों मे गुरु और शिष्य बराबर थे। रानडे सरकारी नौकर थे, उनके समय का बहुत सा हिस्सा कचहरी जाने अथवा फैसला लिखने में लग जाता था। कौंसिल के वे सभासद भी हुए तो सरकार की ओर से। सर्वधारण की ओर से उनको चुने जाने का अवसर ही नहीं मिला।

गोखले ने निर्धनता का व्रत लिया था। दो कन्याओं के, जिनमें से एक ने बी. ए. तक शिक्षा पाई है, निर्वाह की फिक्र तो थी ही, भाई की मृत्यु के उपरांत उन पर भतीजों भतीजियों और भांजों के पालन, पोषण और शिक्षा का भार भी आ पड़ा था।

रानडे को धन की कमी नहीं थी। पुस्तकें और समाचार पत्र पढ़ कर सुनानेवाले और उनके पत्रों का उत्तर देनेवाले वेतनधारी थे। गोखले अपने पत्रों का उत्तर शीघ्रता के साथ ऐसे समय में लिखने बैठते जब डाकगाड़ी [illegible] में थोड़ी देर रह जाती।

दोनों के स्वभाव और गुणों में थोड़ा सा अंतर अवश्य था। गोखले अपने चित्त को एकाग्र तभी कर सकते थे जब सब दर्वाज़े बंद हों, स्थान एकांत हो, कहीं से आवाज़ न आती हो और कोई उस समय मिलने न आवे। इससे वे रात को काम करना पसंद करते थे और यही उनके रोगग्रस्त होने का कारण हुआ। रानडे के काम में कोई विघ्न डाल ही नहीं सकता था। लिखने, पढ़ने, सोचने के समय कोई आ जाय, बच्चे भी शोर मचाएँ, उनका मस्तिष्क निर्विघ्न काम करता था। गोखले कभी कभी उन लोगों से जो काम के समय आ जाते रूखा बर्ताव भी करते थे परंतु पीछे पछताते थे और नौकरों तक से क्षमा मांगने लगते थे।

यदि वाद विवाद में उन पर कोई व्यक्तिगत कटाक्ष कर बैठता उसको वे सहन नहीं कर सकते थे। देशसेवा करने-वाला इससे बच नहीं सकता। गोखले का जीवन रात दिन देश संबंधी कार्यों में व्यतीत होता। इसलिये दूसरों से मत-भेद के अवसर भी बहुत आ जाते। जिनसे मतभेद हुआ करता है वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जो योग्यता पूर्वक तर्क करते हैं। ऐसे लोग गोखले का लोहा मान जाते थे। दूसरे प्रकार के लोग कड़ी और कड़वी बातें कहने और चरित्र पर कटाक्ष करने को युक्ति का स्थान देते हैं। ऐसे लोगों से गोखले बड़े दुःखी होते थे। रात दिन चिंता में पड़ जाते थे। उनके मित्र उनको बहुत समझाया करते थे कि छोटी छोटी बातों को ध्यान में नहीं लाना चाहिए, वे स्वयं भी अपनी त्रुटि को मानते थे पर यह उनका स्वभाव ही हो

गया था। रानडे पर कटाक्षों का कुछ भी असर नहीं पड़ता था। कहा जाता है कि एक वेर जब रानडे विधवाविवाह पर आंदोलन कर रहे थे एक छोटे दर्जे का आदमी उनके घर पहुँचा और अपने को देशसुधारक का पक्षपाती प्रगट करके रानडे से कहने लगा कि आप अपनी विधवा वहिन का विवाह मुझ से कर दीजिए। इसी प्रकार एक नाटक के अभिनय में रानडे के ढंग का एक सुधारक खड़ा किया गया। वह वहरा वनाया गया। एक विवाहिता स्त्री ने उससे आकर कहा "मेरा पति मुझसे मार पीट करता है, मैं उससे दुःखी हूँ।" इस पर वहरे सुधारक ने कहा "दूसरा विवाह कर ले"।

रानडे इस प्रकार के आक्षेपों को शांति से सहन कर लेते थे। इसकी वातचीत भी नहीं करते थे जिसका परिणाम यह होता था कि विरोधी अपने आप चुपचाप वैठ रहता था।

रानडे और गोखले दोनों अच्छे वक्ता थे परंतु गोखले अधिक प्रभावशाली थे। रानडे की वक्तृता गंभीर होती थी। वे दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक विषय के तत्व का अनुसंधान करते थे। उनके विचार तत्ववेत्ता और दिव्यदृष्टा के होते थे। गोखले की भाषा सरल और सुंदर होती थी। उनकी वाणी मधुर थी। रानडे के व्याख्यान से केवल विद्वान और पंडित प्रसन्न होते थे। गोखले सब को प्रिय लगते थे। रानडे ने परिश्रम से वक्तृता देने की शक्ति प्राप्त की थी। गोखले में यह शक्ति परमेश्वरी देन थी। गोखले की सूरत शक्ल भी आकर्षित करती थी, रानडे देखने में भद्दे से मालूम होते थे।

गोखले ने अपना जीवन राजनीति के क्षेत्र को पवित्र

करने में बिताया। यही उनका कार्यक्षेत्र था। रानडे राजनीति, शिक्षा, धर्म, समाज-सुधार, औद्योगिक उन्नति इत्यादि सब विषयों में अनुराग रखते थे और इन सब क्षेत्रों में काम करते थे और सब में उनका कार्य उच्च श्रेणी का समझा जाता है।

---

(१४) रानडे संबंधी कहानियाँ।

(१) बुढ़िया का बोझ।

एक दिन रानडे रास्ते में जा रहे थे। एक ग़रीब बुढ़िया लकड़ी का बोझ ज़मीन पर रक्खे खड़ी थी। बोझ इतना भारी था कि उस बेचारी के उठाए न उठता था। उनको सीधा सादा देख कर उसने यह तो जाना नहीं कि ये हाइकोर्ट के जज हैं, समझी कोई मामूली आदमी होगा। कहने लगी "ज़रा मेरे बोझ को हाथ लगा दो"। उन्होंने तुरंत ही बोझ उठा कर उसके सिर पर रख दिया।

इस प्रकार की घटनाएँ उनके जीवन में अनेक बेर हुई थीं।

(२) पगड़ी गिर गई।

पूना में एक दिन बरसात में रानडे टहलने गए। रास्ते में एक मोड़ थी। मोड़ की दूसरी तरफ़ से एक आदमी तेज़ी से दौड़ा आता था। रानडे को उसका इतनी ज़ोर से धक्का लगा कि उनकी पगड़ी कीचड़ में गिर गई। उन्होंने तुरत ज़मीन से पगड़ी उठा ली और उसको साफ़ करके सिर पर रख लिया। उस आदमी ने बहुत क्षमा-प्रार्थना की। रानडे ने उत्तर दिया कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह तो केवल सड़क की एक घटना है।

(३) जज साहब का मुर्दा ।

राव बहादुर मदन श्रीकृष्ण पूना मे खफीफा के जज थे । उनकी स्त्री का देहांत हो गया। वे जाति के खत्री थे। इस जाति के लोग पूना मे बहुत कम हैं। इसलिये उनकी कचहरी से जो लोग मुर्दनी मे आए थे, उनमें से ऊँची जाति के लोग मुर्दे को उठाकर ले गए। १५ ही दिन के बाद जज साहब का भी शरीर छूट गया। अब उनका मुर्दा उठाने के लिये कोई आदमी नहीं मिलता था। उस समय पूना में उनका एक लड़का और एक भाई था। मुर्दा उठाने के लिये ये दोनों काफ़ी नहीं थे। ऊँची जाति के और लोगों ने इस काम को करना पसंद नहीं किया। रानडे उस समय दौरे पर रहते थे। संयोग से उस दिन वे पूना ही मे थे। जब उनको यह समाचार मालूम हुआ वे तुरंत अपने मित्र राव बहादुर शंकर पांडुरंग को साथ लेकर मदन श्रीकृष्ण के घर पहुँचे और थोड़ी ही देर मे ब्राह्मणों का प्रबंध करके मुर्दनी मे शरीक हुए।

(४) बंगाली मर गया ।

पूना के सायंस कालेज मे कई बंगाली विद्यार्थी पढ़ते थे। इनमें से एक जो बड़ी दूर का रहनेवाला था, एक दिन अकस्मात् बीमार पड़ा और मर गया। दूसरे बंगाली लडके बहुत घबरा गए। पराए देश में अपनी रीति के अनुसार मृतक सस्कार कराना उनको बड़ा कठिन मालूम हुआ। उन्होंने बहुत घबरा कर रानडे को एक पत्र लिखा। रानडे तुरंत उनके घर पहुँचे और उन्होंने उनका सब प्रबंध कर दिया।

(५) पजाबी को स्त्री शोक ।

एक नवयुवक पजाबी को जो बम्बई म रहता था, अपने देश मे स्त्री के मरने का समाचार मिला। उसको उस समय बड़ा दुःख हुआ और इसी अवस्था मे उसने रानडे को एक पत्र लिखा। कचहरी से लौटते हुए रानडे उसके घर पहुँचे और उसके पास देर तक बैठकर उन्होंने उसको तसल्ली दी।

(६) चोर पर दया।

रानडे के ब्राह्मण रसोइए को चोरी की बान पड गई थी। एक दिन आधी रात को उसने लोहे के बक्स की ताली लेकर बक्स खोला और उसमें से गहना इत्यादि निकाल ही रहा था कि वह पकड़ा गया। रानडे ने उसको उसके घर तक का किराया देकर अपने यहाँ से विदा किया।

(७) दुष्ट की दुष्टता और अपना कर्तव्य पालन ।

सन् १८९९ ई० की गर्मी में रानडे ने लोनावला से एक मुक़द्दम का फ़ैसला लिखकर एक लड़के को, जो उनके यहाँ रहता था, डाक मे छोड़ने के लिये दिया। उस फ़ैसले के साथ उनके साथी जज मि० जस्टिस पारसस का भी फ़ैसला था। थोड़ी देर में उस लड़के ने आकर रानडे से कहा कि डाकखाने पहुँचने से पहले ही वह पैकट कहीं रास्ते में गिर गया। ये दोनों पैकट पूना के एक खून के मुक़द्दमे के थे। मालूम होता है कि खूनियों के किसी सहायक या मित्र ने लड़के को लालच देकर वा बहका कर उससे फ़ैसला ले लिया, क्योंकि इसके खो जाने की खबर आपसे आप पूना में पहले ही

पहुँच गई। इसके अतिरिक्त जिस सड़क से वह रानडे के बँगले से डाकख़ाने की तरफ़ गया था, उधर रास्ता बहुत नहीं चलता था, सड़क भी छोटी थी। वक्त दिन का था। रानडे और मि० जास्टिस पारसंस को दूसरा फ़ैसला लिखने का कष्ट उठाना पड़ा। रानडे के मित्रों ने लड़के को घर से निकाल देने की सलाह दी, परंतु उन्होंने सिवाय झिड़क देने के और उसका कुछ नहीं किया। अपने मित्रों को उन्होंने यह उत्तर दिया कि इस लड़के के बाप ने इसको मेरे सिपुर्द उस समय किया था कि जब वह मृत्युशय्या पर पड़ा था और मैंने उस समय वचन भी दिया था कि मैं इसके संरक्षक का कार्य करूँगा। इसलिये इसको घर से निकाल कर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता। इस बालक को उन्होंने अपने घर पर अंत समय तक रख कर उसके पालन पोषण और शिक्षा का प्रबंध किया।

(८) "महादेव को पढ़ने दो।"

रानडे जिस चीज़ को पढ़ते थे, ज़ोर से पढ़ते थे। यह उनकी आदत पड़ गई थी। एक दिन वे अपने कालेज के एक ख़ाली कमरे में नंगे सिर मेज़ पर टाँग फैलाए पुस्तक बड़े ज़ोर से पढ़ रहे थे। उनके बग़ल के कमरे में एल्फिंस्टन कालेज के सुप्रसिद्ध प्रिंसिपल सर एलेक्ज़ेंडर ग्रांट साहब पढ़ा रहे थे। उनको विघ्न पड़ा। इसलिये वे बाहर देखने आए कि किस तरफ़ से शोर हो रहा है। उनके पीछे एक लड़का तेज़ी से आया कि दौड़ कर शोर बंद करा दे। ज्योंही

प्रिंसिपल साहब ने देखा कि रानडे पढ़ रहे हैं वे चुपचाप लौट गए और उस लड़के से बोले—" महादेव (रानडे) को पढ़ने दो। उसकी पढ़ाई में विघ्न न डालो।"

(९) " मोटी ताज़ी औरत आई है।"

जब रानडे दौरे की नौकरी पर थे प्रत्येक ताल्लुके म दो तीन दिन रहते थे। यदि वहाँ की कन्या पाठशाला के अधिकारी निरीक्षण के लिये निमंत्रण देने आते तो आप उन्हें अपनी धर्मपत्नी के पास भेज देते। वे समय आदि निश्चय कर लेतीं। एक दिन रात को आपने श्रीमती से पूछा—" व्याख्यान की तयारी है क्या ? मैंने भी कुछ सुनगुन सुनी थी, पर काम में फँसे रहने के कारण कुछ समझ न सका। रास्ते म कुछ लोग कहते जाते थे कि एक मोटी ताज़ी विद्वान् औरत आई है, कल उसका कन्यापाठशाला में व्याख्यान होगा। परन्तु मैं काम में था, कुछ ख्याल नहीं किया। फिर भी अंदाज से समझ लिया कि यह सब तुम्हारे ही विषय मे था।" ये सब बात आपने ऐसी गंभीरता से कहीं कि सुननेवाला उनको बिल्कुल ठीक मान लेता। रमाबाई ने कहा कि " इन सब म केवल मोटी ताज़ीवाली बात ही मेरे लिये ठीक है, बाक़ी सब कल्पना मात्र है।

(१०) " नरक को स्वर्ग बनाना।"

पूना में प्रार्थना-समाज के मंदिर बनवाने के लिये कोई स्थान नहीं मिलता था। बहुत ढूँढने पर एक तंग गली में एक गंदी जगह मिली और रानडे ने वहीं मंदिर बनवाया।

लोगों ने जगह के गंदे होने की शिकायत की। उन्होंने जवाब दिया—" हमें तो नरक को स्वर्ग बनाना है। "

(११) देश को लकवा मार गया।

रानडे के मित्र वामन आवाजी मोडक सी. आई. ई. को लकवा मार गया। वे उनको अपने घर ले आए। उस समय पूना से एक सज्जन रानडे से मिलने आए और उन्होंने पूछा कि मोडक महाशय को क्या बीमारी है ? इन्होंने उत्तर दिया कि उनको वही बीमारी है जिससे समस्त भारत दुखी है।

(१२) "साहब को भी माला पहना दो। "

नासिक मे एक कन्यापाठशाला थी। उसका एक उत्सव हुआ। थाना के जज मिस्टर कागलेन और उनकी स्त्री उस समय वहीं दौरे पर थे। उन्हीं के हाथ से इनाम बटवाया गया। रानडे उस समय नासिक में जज थे और श्रीयुत देशमुख जाइंट जज थे। श्रीमती देशमुख, मिसेज कागलेन और अन्य स्त्रियों को धन्यवाद देने के निमित्त भाषण करनेवाली थीं। रानडे ने लेख लिख दिया था, परंतु समय पर श्रीमती देशमुख की हिम्मत नहीं पड़ी। तब श्रीमती रानडे ने इस कार्य को कर दिया। इस पर स्कूलों के डिपटी इंस्पेक्टर ने फूलों की बहुसी मालाएँ श्रीमती रानडे के सामने ला रक्खीं। उन्होंने सब प्रतिष्ठित स्त्रियों को मालाएँ पहना दीं, पर कागलेन साहब को नहीं पहनाई, डिपटी साहब ने उनसे जाकर कहा कि साहब को भी माला पहना दीजिए। इस पर श्रीमती जी बहुत नाराज हो गईं। यह देख कर

देशमुख जी हँसते हुए खड़े हो गए और उन्होंने कागलेन साहब को माला पहना दी। उसी दिन रात को सोते समय विनोद से रानडे ने कहा—" हो गई तुम लोगों की सभा ? सब काम तो पुरुषों ने किया उसमें स्त्रियों का अहसान काहे-का ? तुमने केवल तीन ही स्त्रियों को मालाएँ पहनाईं। बेचारे कागलेन साहब ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? " रमाबाई ने उत्तर दिया—" यदि मैं हिंदू न होती तो मुझे भी उसमें कोई आपत्ति न थी। हिंदू होकर भी डिपटी साहब ने मुझे माला पहनाने को कहा, इस पर मुझे आश्चर्य हुआ और क्रोध भी आया। " रानडे ने कहा—" डिपटी साहब पर तुम्हारी अप्रसन्नता व्यर्थ है। उन्होंने किसी दूसरे विचार से तुम्हें माला पहनाने को नहीं कहा था। "

(१२) " शहर की रहनेवाली। "

जब रानडे दौरे पर रहते तब सायंकाल गाँव के लोग उनसे मिलने आते। उनसे वे व्यापार, त्योहार, पाठशाला, कथा, पुराण इत्यादि विषयों पर बात चीत करते। आपने एक दिन रमाबाई से पूछा—" कहो, यहाँ का स्त्रियों से कुछ बात चीत हुई। रमाबाई ने उत्तर दिया—" योंही इधर उधर की कुछ बातें हुईं। " इस पर रानडे ने कहा—" हाँ, ठीक ही है, तुम पढ़ी लिखी शहर की रहनेवाली हो, वे बेचारी गँवार। वे तो योंही तुम्हें देख कर दब जाती होंगी। " इस प्रकार हास्य विनोद द्वारा लज्जित कर रानडे रमाबाई को गाँव की स्त्रियों की सामाजिक अवस्था जानने पर बाध्य करते थे।

(१४) " तुमने अंग्रेजी पढ़ी है । "

रानडे सवेरे ही उठ कर भजन करते थे। वे कभी कभी गद्गद् होकर भक्ति में निमग्न हो जाते । रमाबाई इस अवस्था को देख कर अपने मन में सोचतीं कि इस विषय पर कुछ प्रश्न करने चाहिएँ। परंतु ज्योंही उनकी आँख से आँख मिलती वे सब प्रश्न भूल जातीं। ऐसे अवसर पर एक दिन आपने रमाबाई से कहा—" क्या कुछ टीका करने का विचार है ? हम लोग सीधे सादे आदमी किसी प्रकार भजन कर लेते हैं। तुमने अँग्रेज़ी पढ़ी है, तुम्हें ये सब थोड़े ही अच्छा लगेगा । "

(१५) " रसोइए की अपेक्षा निगरानी रखनेवाले का अधिक दोष है । "

एक दिन रसोइए ने चावल कुछ कच्चे ही पकाए। रमाबाई उस पर बड़ी बिगड़ीं। भोजन के उपरांत रानडे ने हँसते हुए कहा—"ओह ! ज़रा सी बात के लिये इतने बिगड़ने की क्या ज़रूरत थी। धान पचानेवाले लोगों को कच्चा भात क्या हानि पहुँचा सकता है ? हम लोग युद्ध करनेवाली जाति के आदमी ठहरे। जिस समय तुम बिगड़ रही थीं उस समय मैं इसलिये चुप रहा कि कहीं तुम्हारे मालिकपन में फ़र्क न आ जाय। परंतु भात के कच्चे रहने में रसोइए की अपेक्षा उसपर निगरानी रखनेवाले का अधिक दोष है। नौकरों का काम तो ऐसा ही होगा। उनपर निगरानी रखनेवाले को ध्यान रखना चाहिए। " रमाबाई ने कहा—"यदि

थाली में एक मास अधिक आ जाय तो उसे छोड़ देनेवाले लोग क्या युद्ध करेंगे ? और अब तो क़लम में ही युद्ध रह गया है। हाथ में रखने के लिये केवल छड़ियाँ मिलती हैं, वे भी सरकार कुछ दिनों में बंद कर देगी, छुट्टी हुई। यदि सचमुच कहीं युद्ध का काम आ पड़े तो लोगों को कैसी कठिनता हो ? छाती में दर्द होने के कारण टरपेंटाइन लगाने से जिनके छाले पड़ जाते हैं, वे लड़ाई के घाव क्योंकर सहेंगे ?" रानडे ने कहा—"यहाँ तो जगह जगह पर घावों के निशान हैं। यह कंधे के घाव देखो, छाती पर तो इतने ज़ख्म हैं कि उन सभों को मिला कर हिंदुस्तान का एक नक़्शा सा बन गया है। अच्छी तरह देखो।" यह कह कर उन्होंने अपने कपड़े उतार कर छाती दिखाई। रमाबाई ने हँसते हँसते पास जाकर जो देखा तो सचमुच छाती पर *भारत का नक़्शा सा बना हुआ था।*

(१६) "मैं तुम्हारी गाड़ी में चलूँगा"।

महाशय कुंटे रानडे के सहपाठी और मित्र थे। १८८५ में जब रानडे पूना में जज थे तब कुंटे भी पूना ही में थे। उन दिनों म्युनिसिपैलिटियों में यह सुधार किया गया था कि सरकार के चुने हुए मेंबरों के बदले जनता के प्रतिनिधि भी चुने जाँय। रानडे इस सुधार के बड़े समर्थक थे परंतु कुंटे इसके विरुद्ध थे। इसलिये रानडे ने कुंटे का घोर विरोध किया। एक ओर रानडे चेष्टा करते कि पूनावासियों में अपने नगर के शासन करने की इच्छा हो और सुशिक्षित

पैर बढ़ाया। विचारा खूंटे क्या करता। रानडे को अपने साथ बैठाना ही पड़ा। दोनों बहुत दूर तक हवा खाने गए। घर लौटने से पहले दोनों का मतभेद दूर हो गया और फिर किसी ने भी नवीन सुधार का विरोध नहीं किया।

(१७) सिविलियन का दुर्व्यवहार।

१८९४ की कॉंग्रेस से जब रानडे मद्रास से बंबई आ रहे थे, उनके पास पहले दर्जे का टिकट था परन्तु उनके अनेक मित्र दूसरे दर्जे में थे। इसलिये वे अपना असबाव पहले दर्जे में रखकर दूसरे दर्जे में बैठ गए। सोलापुर स्टेशन पर एक युवा सिविलियन साहेब ने उनका असबाव नीचे फेंक कर अपना बिस्तर जमा लिया। जब रानडे को इसकी सूचना मिली वे चुपचाप अपने कमरे में लौट गए और दूसरी बैठक पर जिस पर डाक्टर भाडारकर भी थे, बैठ गए। डाक्टर भाडारकर भी अपने मित्रों के साथ दूसरे दर्जे में बैठे थे। जब सोने का समय आया, भाडारकर महाशय ने अपना स्थान रानडे को दे दिया और हलके होने के कारण वे आप ऊपर की गद्दी पर जा सोए। पूना पहुँच कर साहेब बहादुर को जो वहाँ के असिस्टेंट जज थे, किसी तरह पता लग गया कि जिन हिंदुस्तानी सज्जन का असबाव हमने फेंक दिया था वे हाईकोर्ट के जज मिस्टर रानडे हैं। वह तुरत गाड़ी की ओर लौटा, मालूम होता था रानडे से क्षमा माँगने के लिये आ रहा है। रानडे उसको अपनी तरफ आते देख मुँह फेर कर दूसरी तरफ चल दिए। उसी गाड़ी में मिस्टर गोखले भी थे। गोखले

नें दूसरे दिन उनसे पूछा कि इस मामले में क्या कोई कार्रवाई की जायगी ?" उन्होंने कहा—"इन बातों में मुझे विश्वास नहीं है, इसमें एक तरफ एक कहेगा, दूसरी तरफ दूसरा। यह मामला किसी प्रकार लड़ने लायक नहीं है।" फिर उन्होंने गोखले से पूछा—"क्या हम लोगों का मन इन बातों पर शुद्ध है ? हमलोग अछूत जातियों के साथ, जो हमारे ही देश-वासी हैं, आज कल भी कैसा वर्त्ताव करते हैं। ऐसे समय में जब हमको मिलजुल कर अपने देश के लिये काम करना चाहिए, हम लोग अपने पुराने अभ्युदय के अधिकार छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं और अबतक उनको पादाक्रांत करते ही जाते हैं। ऐसी अवस्था में शुद्ध मन से हम लोग अपने वर्तमान शासक लोगों को जो हम से घृणा करते हैं, कैसे दोष दे सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी घटनाएँ दुःख-दायी हैं और अपने आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाती हैं। इनसे अपने विश्वास की बड़ी परीक्षा होती है। परंतु ऐसी खेदजनक घटनाओं से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि जो कार्य हमारे सामने हैं उनको हम दृढ़तापूर्वक मन लगा कर करते जाँय।"

(१८) 'बुख़ार है या नहीं ?'

रानडे के चाचा विठ्ठल काका बुढ़ापे में उनके साथ ही रहते थे। उनकी अवस्था सत्तर बहत्तर वर्ष की थी परंतु वे बड़े हृष्ट पुष्ट थे। एक बेर वे रानडे और उनके परिवार के साथ महाबलेश्वर गए। उन दिनों प्लेग का जमाना था।

वहाँ पहुँच कर डाक्टर ने सब लोगों की जाँच की। डाक्टर ने जब विट्ठल काका को थर्मामेटर लगाना चाहा, उन्होंने कहा—"थर्मामेटर से तुम्हें क्या मालूम होगा? तुम कह सकते हो कि मेरी उम्र कितनी है? तुम यही देखना चाहते हो न कि हमें बुखार है या नहीं? तो लो, देखो।" यह कह कर उन्होंने डाक्टर की कलाई पकड़ ली। डाक्टर ने कहा "छोड़ दो, तुमको बुखार नहीं है, तुम हमसे भी ज्यादा मजबूत हो।"

(१९) रानडे के चाचा।

विट्ठल काका एक दफ्तर में १५) या २०) के मोहर्रिर थे। उनके बड़े साहब ने हुक्म दिया कि जिन लोगों को नौकरी करते २५ वर्ष हो गए वे अब पेंशन ले लें। विट्ठल काका को जब यह हुक्म दिखलाया गया, उन्होंने इसका कारण पूछा। दफ्तरवालों ने कहा—"२५ वर्ष काम करने के अनन्तर लोग निर्बल, निरुत्साही हो जाते हैं और काम करने के योग्य नहीं रहते।" दूसरे ही दिन विट्ठल काका साहब के बँगले पर पहुँचे। साहब उस समय टहलने जा रहे थे। साहब के पूछने पर उन्होंने कहा—"मैं विट्ठल बाबा रानडे अमुक दफ्तर का क्लर्क हूँ।" साहब ने कहा—"फिर किसी वक्त आना, इस समय मैं बाहर जाता हूँ।" उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे बँगले पर आने की जरूरत नहीं, सिर्फ दो मिनिट ठहर जाइए।" यह कह कर आप लॉग कस और अस्तीन चढ़ा, चार बैलों के खींचने लायक़ सड़क कूटने के पत्थर का

बेलन साहब के सामने खींच लाए। साहब ने आश्चर्य से पूछा—"यह क्या करते हो ?" विठ्ठल काका ने कहा-"आपने दफ्तर में हुक्म दिया है कि जिनकी नौकरी पचीस-वर्ष की हो गई वे सब पेंशन पर जाँय। मैं ने सोचा कि दरख्वास्तें देने से मुझ ग़रीब की कोई सुनेगा नहीं, इस लिये यह प्रत्यक्ष दरख्वास्त देने में आया हूँ। यदि अब भी संदेह हो कि मैं काम नहीं कर सकता तो आप खुद बेलन घसीट कर देख लें।" दूसरे दिन उनका नाम पेंशन की सूची से काट दिया गया।

(२०) आम तोड़ा, ज़ेवर खोया।

जब रानडे दौरे पर रहते थे एक दिन सातारा ज़िले के एक स्थान में वे टहलने निकले। रमाबाई से कह गए कि गाड़ी कसवा के तुम पीछे आना। रमाबाई ने सड़क के किनारे के पेड़ों पर आम लगे हुए देख कर चाबुक से तोड़ना शुरू किया। इसीमें उनके हाथ का गहना गिर गया। उन्होंने बहुत तलाश किया पर पता न लगा। गाड़ीवान और चपरासी भी उसको ढूँढ़ने लगे। इस में रमाबाई को बड़ी देर लग गई। जब वे गाड़ी कसवा कर गई तो रानडे दो मील जा चुके थे। उनसे मिल कर इन्होंने सब हाल कहा। इस पर आप गंभीरतापूर्वक बोले—"बिना पूछे दूसरे के आम तोड़े, उसी की यह सज़ा मिली।" रात को भोजन के समय आपने रसोइए से कहा—" सबेरेवाले ७५) के आम की चटनी तो लाओ।" रमाबाई लिखती हैं कि इन बातों से मुझको बड़ी

नसीहत मिली। रानडे ने यह भी कहा कि "गहने के लिये इतना दुःखी होने की आवश्यकता नहीं। आज दोपहर को हमारी भी एक जस्ते की डिबिया खो गई। एक चीज़ तुम्हारी खोई, एक हमारी। दोनों बराबर हो गए। हमारी डिबिया थोड़े दाम की थी, पर उसके बिना बड़ा हर्ज है। चीज़ खोने से अपनी असावधानता ही प्रतीत होती है। इस लिये साव-धान रहना चाहिए। उसके लिये दिन भर दुखी रहने की आवश्यकता नहीं। सदा हँसी खुशी से रहना चाहिए।"

(२१) रानी का राज्य।

काम की अधिकता से रानडे के भोजन और विश्राम में कभी कभी देर हो जाती। महाबलेश्वर में एक दिन जब वे पढ़ लिख रहे थे रमाबाई ने उनसे इस बात की शिकायत की। आपने कहा—'चलो, उठो हमें तो इस बात का ध्यान ही नहीं रहता कि भोजन में अधिक विलंब होने के कारण कोमल स्त्रियों को कष्ट होता है'। ऐसी अवस्था में कभी कभी आप कहते "हमारे आसरे तुम लोग भूखी क्यों रहती हो? यदि किसी दिन हमें देर हो जाय तो तुम खा लिया करो। यदि इतनी स्वतन्त्रता भी न हुई तो रानी का राज्य किस काम का।

(२२) थकावट में देशसेवा और बीमारी में कर्त्तव्य-पालन।

लोनावला में एक बार पानी बरसने पर भी रानडे खुली हवा में ही बैठे रह गए। इससे गुरदे का रोग हो गया। बंबई में चिकित्सा की और कुछ फ़ायदा हुआ। एतवार के दिन

सवेरे ही से आपने कचहरी का काम करना शुरू कर दिया। भोजन करके वे फिर उसी काम को करने बैठे और उन्होंने रमाबाई से कह दिया कि आज किसी से भेंट न करेंगे। तीसरे पहर रमाबाई ने चाय के लिये पूछा तो कहा अभी नहीं, मैं आप ही माँग लूँगा। थोड़ी देर के बाद उन्होंने आप ही चाय माँगी और मुँह हाथ धोकर टहलने जाने की तय्यारी की। इतने में प्रार्थना समाज के चपरासी ने आकर कहा 'सेक्रेटरी साहब ने कहा है कि आज आप ही उपासना करावें'। रमाबाई को क्रोध आया, उन्होंने कहा—"सेक्रेटरी साहब ने कहा है या आज्ञा दी है, पत्र तक न लिखा और सँदेसा भी भेजा तो पाँच बजे"। इस पर रानडे ने कहा इसमे सिपाही का क्या दोष है। इसका काम सँदेसा पहुँचाना है। उन्होंने सिपाही से कहा चलो हम आते हैं और रमाबाई से प्रार्थना संगीत की पुस्तक माँगी। रमाबाई के पूछने पर उन्होंने कहा—"जिस मुक़दमे का फ़ैसला मैं आज लिख रहा हूँ वह बड़े महत्व का है। हम जजों में पाँच छ. दिन तक विचार होता रहा तौ भी सब की राय नहीं मिली। कल उसका फ़ैसला सुनाना होगा। और मेरे साथी जज ने कल संध्या को मुझे पत्र भेजा है कि मैं ही फ़ैसला लिखूँ। इसी लिये सवेरे और सध्या को बहुत देर तक बैठना पड़ा। मुक़दमा खून का है जिसमें धारवाड़ के ६ ब्राह्मण अभियुक्त हैं"। प्रार्थना-समाज मे पहुँच कर आपने बड़ी ही प्रेमोत्तेजक और भक्तिपूर्ण उपासना कराई। वहाँ से लौटते हुए गाड़ी ही में तबीयत खराब हो गई। रात को बुखार आगया और नींद बिलकुल नहीं आई।

दूसरे दिन फैसला लिखते हुए कुछ शौच की आवश्यकता प्रतीत हुई। पर उन्होंने कहा अब काम खतम करके उठेंगे। इस पर रमाबाई ने कहा—"विश्राम तो आप लेते ही नहीं काम पर काम करते चले जाते हैं। मन तो वश म हो जाता है परन्तु उसके कारण शरीर को कष्ट भोगना पड़ता है"। आपने कहा—'यदि तुम्हारे थोड़े से श्रम से किसीके प्राण बच सकें तो तुम इतना कष्ट सहने के लिये तैयार होगी या नहीं'। रमाबाई ने कहा—"मैं ही क्या, सब तय्यार होंगे" रानडे ने कहा—"बीमार होने की किसी को इच्छा नहीं होती, इस मुक़द्दमे में मेरे साथी जज की फाँसी की राय थी। मेरा मत इसके विरुद्ध था इसलिये इसका फैसला लिखने में अधिक समय और श्रम लगा। यदि मैं बीच ही में उठ जाता तो मन के विचार तितर बितर हो जाते और उन्हें फिर एकत्र करने में कठिनता होती"। दूसरे दिन कचहरी से आकर उन्होंने रमाबाई से कहा—"आज दो आदमियों की जान बची। उनको फाँसी की आज्ञा हुई थी पर अंत में कालेपानी की सजा दी गई।"

(२३) नौकरों से प्रीति।

१८९७ मे जब बबई मे प्लेग फैला हुआ था रानडे के कई नौकरों को प्लेग हो गया। आपने उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबध कर दिया। वे उनका प्रतिदिन हाल पूछते, उनकी खराब अवस्था का हाल सुन कर रात को भोजन न करते। रमाबाई घबरातीं कि कहीं वे अस्पताल उनको देखने न पहुँच जाँय क्योंकि वे नहीं चाहती थीं कि रानडे प्लेग के

अस्पताल में जाँय। इसके साथ ही वे यह भी नहीं चाहती-थीं कि उनसे यथार्थ हाल छिपावे जिसमें पीछे इसके कारण अप्रसन्नता हो। इनमें से एक उनकी सौतेली माँ के गाँव का लिखा पढ़ा आदमी था जो रानडे को पुस्तकें और समाचार-पत्र पढ़ कर सुनाया करता था। वह अँग्रेज़ी का काम अच्छा करँ लेता था और रानडे को भक्ति की दृष्टि से देखता था। वह पाँच घंटा लगातार काम कर सकता था। उसका नाम काशीनाथ था। रमाबाई उसको अस्पताल मे देखने गईं और उससे कहा कि रानडे भी तुमको देखने आवेंगे। यह सुन कर वह डाक्टर पर बिगड़ कर अँग्रेज़ी में कहने लगा—"मेरे मालिक को देखो, वे मुझ पर कितनी दया करते हैं। इस प्लेग के अस्पताल में उन्होंने अपनी स्त्री को भेजा है और वे मुझे देखने स्वयं आएँगे। वे कल ही आते परंतु उनको काम से छुट्टी नहीं मिलती; तुम जानते हो वे जब तक सब सो नहीं जाते किसी न किसी काम मे लगे रहते हैं। मैं उनका रीडर हूँ। मैं घटों उनको पढ़ कर सुनाता हूँ। मैं बेकार नहीं बैठ सकता परंतु तुमने मुझे क़ैदी बना लिया है। क्या तुमको नहीं मालूम मैं कौन हूँ ? मैं जस्टिस रानडे का रीडर हूँ। बिना मेरे उनका काम नहीं चल सकता। मैं उनका प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ। क्या तुम नहीं जानते मैं किसका आदमी हूँ ? क्या वे पसंद करेंगे कि मैं बेकाम बैठा रहूँ। मैं उठता हू और काम मे लग जाता हूँ, अब तुम्हारी किसीकी नहीं सुनूँगा" इत्यादि कहता हुआ वह पागल की तरह सनकने लगा। डाक्टर के संकेत करने पर रमाबाई वहाँ से चल दीं।

उसके अनंतर वे दूसरे नौकरों को देख कर घर गई। रानडे उस समय भोजन कर रहे थे। उनका हाल सुनकर उन्होंने खाने से हाथ खींच लिया और आँख में आँसू भर कर वे बोले—"यदि हम लोग पंद्रह दिन पहले ही बँगला छोड़ देते तो यह अवसर न आता। यह लड़का बड़ा होनहार और बड़े काम का है। फिर चलते वक्त चोबदार से कहा —"रास्ते में काशीनाथ को देखते हुए चलना होगा'। उसने कहा 'तब कोर्ट पहुँचने में देर होगी'। आपने कहा—"अच्छा सन्ध्या को लौटते समय सही, भूलना मत"। परन्तु हाईकोर्ट में ही पाँच नौकरों में से तीन के मरने का समाचार पहुँचा जिनमें से एक काशीनाथ था। डाक्टर ने पुछवाया कि उनकी अंतिम क्रिया अस्पताल के खर्च में होगी अथवा उनके खर्च में। रानडे ने तुरंत दो आदमी अस्पताल भेजे और एक अपने घर से रुपया लाने के लिये। काशीनाथ की अंत्येष्टि क्रिया का उन्होंने प्रबंध स्वयं किया और दूसरे नौकरों को उनकी बिरादरीवालों में करा दिया।

(२४) जीभ की परीक्षा।

एकबार पूना से रानडे के एक मित्र ने अपने बाग के कुछ आम भेजे। रमाबाई ने उनमें से एक चीर कर उनकी थाली में रखा। उन्होंने एक फाँक खाकर आम की तारीफ़ की और कहा—"तुम भी खाओ और सब लोगों को दो"। रमाबाई ने कहा—"आज कल तो आपका शरीर भी अच्छा है परंतु आपने मित्र का स्नेहपूर्वक भेजा हुआ एक आम भी न खाया। आम भी अच्छा है"। रानडे ने उत्तर दिया—

" आम अच्छा था इसीलिये तो मैंने छोड़ दिया। तुम भी खाओ और लड़कों को भी दो। मैं और भी दो एक फाँक खा लेता परंतु आज मैंने जीभ की परीक्षा ली है। बचपन में जब हम लोग बंबई मे पढ़ते थे तब हमारे बगलवाले कमरे में हमारे एक मित्र और उनकी माता रहती थीं। इनका परिवार किसी समय में बड़ा संपन्न था परंतु उस समय मेरे मित्र को २०) या २५) छात्रवृत्ति मिलती थी उसीमे दोनों निर्वाह करते थे। कभी कभी जब लड़का तरकारी न लाता तब माँ कहती—" मैं इस जीभ को कितना समझाती हूँ कि सात आठ तरकारियों, चटनियों, घी, खीर और मठे के दिन अब गए। परंतु तो भी बिना चार छः चीजें किए यह जीभ मानती ही नहीं। इस लड़के के लाए तरकारी भी नहीं लाई जाती। इसका काम तो बिना तरकारी चल जाता है परंतु मेरा नहीं चलता "। तात्पर्य यह कि यदि जीभ को अच्छी अच्छी चीजों की आदत लगा दी जाय और दिन अनुकूल न हों तो बड़ी कठिनता होती है। ज्यों ज्यों मनुष्य बड़ा और समझदार होता जाय त्यों त्यों उसे मन में से पशुवृत्ति कम करने और दैवी गुण बढ़ाने की आदत डालनी चाहिए। अच्छी बातों के साधन में बहुत कष्ट होता है उसे सहन करने के लिये यम-नियमों का थोड़ा बहुत अवलंबन करना चाहिए। लड़कियों को उदाहरण दिखलाने के लिये स्त्रियाँ चातुर्मास का नियम करती हैं परंतु ऐसे नियमों के लिये निश्चित दिन और समय की आवश्यकता नहीं। ज्यों ही ऐसा विचार मन में आवे त्यों ही बिना मुँह से कहे उसका साधन करना

चाहिए। जिस काम को रोज थोड़ा थोड़ा करने का निश्चय विचार किया जाय वह जल्दी साध्य होता है। दैवी गुण बढ़ाना और मन को उन्नत करना सब के लिये कल्याणप्रद है। ऐसी बातें दूसरों को दिखलाने या कहने के लिये नहीं हैं। रात को सोते समय अपने मन में इस बात का विचार करना चाहिए कि आज हमने कौन कौन से अच्छे और बुरे काम किए हैं। अच्छे काम को बढ़ाने की ओर मन की प्रवृत्ति रखनी चाहिए और बुरे कामों को कम करने का दृढ़ निश्चय करके ईश्वर से उसमें सहायता माँगनी चाहिए। आरंभ में इन बातों में मन नहीं लगता परंतु निश्चयपूर्वक ऐसी आदत डालने से आगे चल कर ये बातें सब को रुचने लगती हैं। जब हम अपने आपको ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं तब क्या हममें दिन पर दिन उसके गुण नहीं आ सकते। जो लोग अधिकारी और भाग्यवान् होते हैं वे कठिन यम-नियमों का पालन और योग साधन करते हैं परंतु हमारा भाग्य ऐसा नहीं है। हम हजारों व्यसनों में फँसे हुए हैं, तिस पर कानों से बहरे और आँखों से अंधे हैं। इस लिये यदि उन लोगों के बराबर हम साधन न करें तो भी अपने अल्प सामर्थ्यानुसार इस प्रकार की चेष्टा तो करनी ही चाहिए"। इस पर रमाबाई ने कहा—"यह सुन कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। तो भी नियमानुसार आपने और बातों में मेरा प्रश्न उड़ा दिया। अस्तु, मैं समझ गई कि चाय की बूँदों की तरह भोजन भी परिमित हो गया। आप इसमें अधिक ध्यान रखा करें। खाना तो आपके ही अधिकार में है न ?" रानडे ने उत्तर

दिया—“ अच्छा हम एक बात पूछते हैं। कभी हम भी इस बात की जाँच करते हैं कि तुम लोग क्या खाती हो, क्या पीती हो, कितनी देर सोती हो, या क्या करती हो; तब फिर तुम लोग पुरुषों की इन बातों की जाँच क्यों करती हो ...... हमारे एक एक काम पर तुम जासूस की तरह दृष्टि रखती हो।”

(यह कथा रानडे के अंतिम दिनों की है ।)

Printed by G K Gurjar at Shri Lakshmi Narayan Press, Jatanbar, Benares City.

मनोरंजन पुस्तकमाला ।

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं ।

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्र ।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद ।
(४) आदर्श हिंदु १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा ।
(५) ,, ,, २ ,, ,,
(६) ,, ,, ३ ,, ,,
(७) राणा जगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा ।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी. ए. ।
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी.एस-सी.,एल.टी ।
(११) लालचीन—लेखक वृजनदन सहाय ।
(१२) कबीरशब्दावली—संग्रहकर्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय ।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र ।

———